अवलोकितेश्वर ग्रन्थमाला- २

बौद्ध सिद्धान्त सार

[बालमतिनयनोन्मीलक सुभाषित]

ग्रन्थकार

परम पावन श्रद्धेय दलाई लामा

भोट विद्या संस्थानम्

केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, सारनाथ, वाराणसी

बुद्धाब्द २५४१ सन् १९९७ ई०

अवलोकितेश्वर ग्रन्थमाला- २

बौद्ध सिद्धान्त सार

[बालमतिनयनोन्मीलक सुभाषित]

ग्रन्थकार
परम पावन श्रद्धेय दलाई लामा

भाषान्तरकार
श्री थुबतन छोगडुब

सम्पादक
श्री रामशङ्कर त्रिपाठी

भोट विद्या संस्थानम्

केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा-संस्थान, सारनाथ, वाराणसी

बुद्धाब्द २५४१ सन् १९९७ ई0

अवलोकितेश्वर ग्रन्थमाला- २

प्रधान सम्पादक : भिक्षु समदोङ् रिनपोछे

सम्पादक : प्रो. रामशङ्कर त्रिपाठी

प्रथम संस्करण : १०५० प्रतियाँ, १९६४

द्वितीय संस्करण : १०५० प्रतियाँ, १९९७

मूल्य

सजिल्द : रु० १००.००

अजिल्द : रु० ४०.००

प्रकाशक

केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, सारनाथ, वाराणसी-२२१००७

मुद्रक : सत्तनाम प्रिंटिंग प्रेस, पाण्डेयपुर, वाराणसी ।

AVALOKITEŚVARA SERIES- 2

Bauddha-Siddhānta-Sāra

[Bālamatinayanonmīlaka-subhāṣita]

Author

His Holiness The Dalai Lama

Translated by

Shri Thuptan Chhogdup

Edited by

Shri Ram Shankar Tripathi

भोट विद्या संस्थानम्

Central Institute of Higher Tibetan Studies
Sarnath, Varaasi

B.E. 2541 C.E. 1997

AVALOKITEŚVARA SERIES- 2

Chief Editor : *Prof. Samdhong Rinpoche*
Editor : *Prof. Ram Shankar Tripathi*

First Edition : 1050 copies, 1964
Second Edition : 1050 copies, 1997

Price: Hardback: Rs. 100.00
Paperback: Rs. 40.00

Publisher:
Central Institute of Higher Tibetan Studies,
Sarnath, Varanasi-221007, India.

Printed at Sattanam Printing Press, Pandeypur. Varanasi.

प्रकाशकीय
[द्वितीय संस्करण]

बौद्ध धर्म-दर्शन के जिज्ञासुओं के समक्ष 'बौद्ध सिद्धान्तसार' (बालमतिनयनोन्मीलक सुभाषित) नामक इस लघुकाय ग्रन्थ के द्वितीय संस्करण को प्रस्तुत करते हुए प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है । इसके रचयिता परम पावन चौदहवें दलाई लामा जी हैं । उनके द्वारा तिब्बती भाषा में लिखित मूल ग्रन्थ का यह हिन्दी-अनुवाद है ।

ज्ञात है कि तिब्बत में बौद्ध विद्याओं के अध्ययन और साधना की प्राचीन प्रणाली गुरु-शिष्य परम्परा से वर्तमान युग तक जीवन्त है । विद्वानों की मान्यता है कि एकमात्र तिब्बत ही आज विश्व में बौद्ध विद्याओं के प्रामाणिक ज्ञान का प्रमुख स्रोत है । इधर भारतीय लोगों में बौद्ध धर्म, दर्शन, साधना आदि के प्रति जिज्ञासा जागरित हुई है । इन विद्यापरम्पराओं का जितना सामान्य ज्ञान नितान्त अपेक्षित है, उसे ध्यान में रखकर परम पावन दलाई लामा जी ने संक्षेप में और सरल रूप में इस ग्रन्थ का करुणापूर्वक प्रणयन किया है ।

इसका प्रथम संस्करण दलाई लामा जी के कौंसिल आफ रिलिजस अफेयर्स, धर्मशाला द्वारा सन् १९६४ में प्रकाशित हुआ था, किन्तु बहुत दिनों से यह क्रय के लिए सुलभ नहीं था । ग्रन्थ की उपयोगिता और लोगों की माँग को देखकर संस्थान ने इसके द्वितीय संस्करण के प्रकाशन का निश्चय किया, तदनुसार प्रकाशन की सारी व्यवस्था की गई । इस कार्य में जिन महानुभावों का प्रत्यक्ष या परोक्ष सहयोग रहा, उन सबको मैं साधुवाद देता हूँ और मङ्गल कामना करता हूँ ।

बुद्ध पूर्णिमा
२२ मई १९९७

स0 रिन्पोछे
निदेशक

प्रस्तावना

परमपावन पूज्य दलाई लामा द्वारा भोटभाषा में रचित इस ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद हिन्दीभाषाभाषी जगत् के सम्मुख समर्पित करते हुए हमें परम हर्ष का अनुभव हो रहा है ।

इस ग्रन्थ के मुख्यतः पाँच भाग किये जा सकते हैं, यथा— (१) धर्म, (२) सत्यद्वय, (३) मार्ग, (४) फल, एवं (५) तिब्बत में बौद्ध धर्म का विकास ।

बौद्धों के अनुसार अकुशल धर्मों से विरत होना, कुशल धर्मों का सम्पादन करना एवं अपने चित्त का दमन करना—यही धर्म का स्वरूप है, इसे ही 'बुद्धशासन' कहते हैं । धम्मपद में भी कहा है :

संब्बपापस्स अकरणं कुसलस्स उपसम्पदा ।
सचित्तपरियोदपनं एतं बुद्धान सासनं ॥

बोधिचर्यावतार में भी अपने चित्त का दमन करना ही धर्म कहा गया है; क्योंकि कुशल और अकुशल कर्मों में चित्त ही प्रधान है, यथा :

जपास्तपांसि सर्वाणि दीर्घकालकृतान्यपि ।
अन्यचित्तेन मन्देन वृथैवेत्याह सर्ववित् ॥
दुःखं हन्तुं सुखं प्राप्तुं ते भ्रमन्ति मुधाम्बरे ।
यैरेतद्धर्मसर्वस्वं चित्तं गुह्यं न भावितम् ॥
तस्मात् स्वधिष्ठितं चित्तं मया कार्यं सुरक्षितम् ।
चित्तरक्षाव्रतं मुक्त्वा बहुभिः किं मम व्रतैः ॥

अर्थात् अन्यत्र आसक्त मन्द चित्त के द्वारा बहुत कालपर्यन्त किये गये सारे जप, तप आदि व्यर्थ हैं—ऐसा सर्वज्ञ भगवान् बुद्ध ने कहा है । जिन्होंने धर्म के निदानभूत गुह्य चित्त की भावना नहीं की, वे दुःख के नाश और सुख की प्राप्ति के लिए व्यर्थ संसार में

भ्रमण कर रहे हैं । इसलिए मुझे अपने चित्त की ही रक्षा करनी चाहिए; क्योंकि चित्तरक्षा ही सबसे महान् व्रत है । इस व्रत को छोड़कर अन्य अनेक व्रतों के सेवन से क्या लाभ ?

धर्म का अन्तिम उद्देश्य संसार की धारा का उन्मूलन करके सर्वज्ञ पद प्राप्त करना है । इस उद्देश्य को एक ही जन्म में प्राप्त कर लेना, सभी लोगों के लिए सम्भव नहीं है । इसलिए अनेकानेक जन्मपर्यन्त साधना द्वारा चित्त का विकास किया जाता है । किन्तु दृष्ट जन्म के अतिरिक्त अन्य जन्मों के बारे में लोगों को अनेक प्रकार के सन्देह हैं । इस सन्देह की निवृत्ति के लिए बौद्ध आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में पुष्कल युक्तियाँ दी हैं, जिनके द्वारा पुनर्जन्म सिद्ध होता है । ग्रन्थकार ने भी प्रमाण एवं युक्तियों के द्वारा इस विषय का सुस्पष्ट प्रतिपादन किया है ।

मूल सत्य अर्थात् परमार्थ सत्य और संवृतिसत्य, उपाय और प्रज्ञा रूपी मार्ग तथा उस मार्ग के फल अर्थात् बोधि एवं निर्वाण—ये सभी बौद्ध सिद्धान्तों के सामान्य प्रतिपाद्य हैं । इन विषयों के सम्यग् ज्ञान द्वारा ही बौद्ध धर्म में प्रवेश हो सकता है । बौद्ध धर्म का सम्पूर्ण रहस्य इनके गर्भ में निहित है ।

यद्यपि सभी बौद्ध सिद्धान्तों में परमार्थ सत्य और संवृति सत्य की स्थापना की गई है; तथापि उनके स्थापना के प्रकार भिन्न-भिन्न हैं । फलतः मार्ग एवं फल भी भिन्न-भिन्न माने जाते हैं । प्रस्तुत ग्रन्थ में मुख्यतः प्रासङ्गिक दृष्टि से सत्यद्वय का प्रतिपादन किया गया है; क्योंकि प्रासङ्गिक मत ही गम्भीर और युक्तियुक्त है । प्रासङ्गिक मत के यथार्थ ज्ञान के लिए अन्य मतवादियों की सत्यद्वय-सम्बन्धी स्थापना जानना आवश्यक है ।

वैभाषिक मत के अनुसार बाह्य दण्ड-आदि उपकरणों द्वारा भेद करने पर या बुद्धि द्वारा विश्लेषण करने पर जिस पदार्थ की बुद्धि विनष्ट हो जाती है, वह संवृति सत्य हैं, इसके विपरीत परमार्थ सत्य है । घट, पट आदि संवृति सत्य हैं तथा नील, पीत—आदि परमार्थ सत्य हैं । जैसा कि आचार्य वसुबन्धु ने अभिधर्मकोश में कहा है :

भेदे यदि न सद्बुद्धिरन्यापोहे धियापि च ।
घटाम्बुवत् संवृतिसत् तदन्यत्परमार्थसत् ॥

कहने का तात्पर्य यह है कि संस्कृत धर्मों में संवृतिसत्य और परमार्थ सत्य–दोनों होते हैं; किन्तु निर्वाण एवं आकाश आदि असंस्कृत धर्म एकान्त–रूप से परमार्थ सत्य है; क्योंकि उनका दण्ड आदि सप्रतिघ रूपों द्वारा न तो भेद किया जा सकता है और न बुद्धि द्वारा विश्लेषण करने पर उनकी बुद्धि का लोप ही होता है ।

सौत्रान्तिक मत के अनुसार उपर्युक्त दोनों सत्यों का स्वरूप वैभाषिकों से अत्यन्त भिन्न है । इनके मत में परमार्थतः अर्थक्रियासमर्थ धर्म परमार्थ सत्य है तथा परमार्थतः अर्थक्रिया–असमर्थ धर्म संवृतिसत्य है । स्वलक्षण परमार्थ सत्य है तथा सामान्यलक्षण संवृतिसत्य है । आचार्य धर्मकीर्ति ने अपने प्रमाणवार्तिक नामक ग्रन्थ में सौत्रान्तिक पक्ष स्पष्ट करते हुए कहा भी है :

अर्थक्रियासमर्थं यत्तदत्र परमार्थसत् ।
अन्यत्संवृतिसत्प्रोक्तं ते स्वसामान्यलक्षणे ॥

'परम' का तात्पर्य प्रत्यक्ष ज्ञान से है । प्रत्यक्ष ज्ञान द्वारा साक्षात् करने योग्य वस्तु परमार्थ कही जाती है । इस प्रत्यक्ष बुद्धि के स्थल में मिथ्या का किञ्चित् भी प्रतिभास नहीं होता, अतः वह सत्य भी है । संवृति का तात्पर्य कल्पना से है । कल्पना बुद्धि स्वलक्षण के यथार्थ दर्शन में आवरण हैं; क्योंकि इस बुद्धि के स्थल में अभिधेयाकार एवं अभिधानाकार की प्रतीति मिश्रित रूप से होती है । अथवा—अभिधेयाकार और अभिधानाकार के संसर्ग की योग्यता होती है । इस बुद्धि के स्थल में प्रतिभासित धर्म संवृतिसत्य कहा जाता है । सभी संस्कृत धर्म एकान्तरूप से परमार्थ सत्य हैं तथा सभी असंस्कृत धर्म संवृतिसत्य हैं ।

विज्ञानवाद के अनुसार सत्यद्वय का विवेचन वैभाषिक और सौत्रान्तिकों की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म है तथा महत्त्वपूर्ण है । इनके मत में परमार्थ सत्य और संवृतिसत्य शब्दों की व्युत्पत्ति माध्यमिकों की

ही तरह है; किन्तु इन दोनों सत्यों का स्वरूप माध्यमिकों से अत्यन्त भिन्न है । इनके अनुसार बाह्यार्थ से शून्यता परमार्थ सत्य है तथा घट-आदि धर्म संवृति सत्य है ।

यद्यपि इस मत में घट-आदि धर्म बाह्य-अर्थ से शून्य हैं; तथापि घट, पट आदि की स्थापना सम्यक् प्रकार से की जा सकती है । बाह्य अर्थ की सत्ता का निषेध किया जाता है, किन्तु घट, पट आदि की सत्ता का निषेध नहीं किया जाता । यदि इनकी सत्ता का भी निषेध किया जाएगा तो कार्यकारणभाव का भी अपवाद होने लगेगा । फलतः 'उच्छेद' नामक 'अन्त' में पतन हो जाएगा । यदि बाह्य अर्थ की सत्ता का निषेध नहीं किया जाएगा तो 'शाश्वत' नामक 'अन्त' में पतन हो जाएगा । यह विज्ञानवाद का कठिन एवं मर्मस्थल है ।

माध्यमिकों के अनुसार सत्यद्वय की स्थापना प्रस्तुत ग्रन्थ में की गई है । माध्यमिक दो प्रकार के होते हैं, यथा—स्वातन्त्रिक एवं प्रासङ्गिक । दोनों मत में परमार्थतः स्वभावसत्ता नहीं होती । व्यवहारतः स्वभावसत्ता माननेवाले 'स्वातन्त्रिक' माध्यमिक कहलाते हैं तथा व्यवहारतः भी स्वभावसत्ता न माननेवाले माध्यमिक 'प्रासङ्गिक' कहे जाते हैं । स्वातन्त्रिक माध्यमिक भी दो प्रकार के हैं, यथा—सूत्राचार माध्यमिक एवं योगाचार माध्यमिक । आचार्य भव्य और ज्ञानगर्भ आदि सूत्राचार स्वातन्त्रिक माध्यमिक हैं तथा आचार्य शान्तरक्षित और हरिभद्र आदि योगाचार स्वातन्त्रिक माध्यमिक हैं । सूत्राचार स्वातन्त्रिक माध्यमिक व्यवहार में बाह्यार्थ स्वीकार करते हैं । इसलिए वे आलयविज्ञान एवं स्वसंवेदन आदि नहीं मानते । योगाचार स्वातन्त्रिक माध्यमिक व्यवहार में विज्ञप्तिमात्रता स्वीकार करते है । इसलिए वे स्वसंवेदन मानते हैं; किन्तु आलयविज्ञान-आदि नहीं मानते । ये दोनों प्रकार के स्वातन्त्रिक माध्यमिक सभी धर्मों को सत्यतः (परमार्थतः) स्वभावशून्य मानते हैं; किन्तु व्यवहार में सभी धर्मों की स्वभावसत्ता या स्वतन्त्रसत्ता स्वीकार करते हैं; क्योंकि वे सत्ता और स्वभावसत्ता के भेद को समझ नही पाते । वे हेतु, दृष्टान्त, पक्ष एवं व्याप्ति आदि की स्वतन्त्रसत्ता

मानकर सम्यग् लिङ्ग की स्थापना करते हैं । अतः वे स्वातन्त्रिक माध्यमिक कहे जाते हैं ।

प्रासङ्गिक माध्यमिक मत के अनुसार वस्तु की स्वलक्षणसत्ता (स्वभावसत्ता या स्वतन्त्रसत्ता) व्यवहार में भी नहीं मानी जाती । अर्थात् वस्तु की अपनी तरफ से कुछ भी सत्ता नहीं है । सभी वस्तुएँ कल्पितमात्र, उपचरितमात्र, नाममात्र एवं प्रतीत्यसमुत्पन्न मानी जाती हैं । इस प्रकार मानने पर ही कार्य-कारण, बन्ध-मोक्ष आदि सारी व्यवस्थाएँ युक्तियुक्त एवं भलीभाँति बनती हैं ।

यदि वस्तु की स्वाभाविक सत्ता मानी जाएगी, तो उसका अस्तित्व अन्य (हेतु-प्रत्ययों) की अपेक्षा से नहीं हो सकेगा; किन्तु सभी धर्म परस्परापेक्ष ही देखे जाते हैं, अतः निःस्वभावता के आधार पर ही कार्यकारण आदि सभी व्यवस्थाएँ ठीक-ठीक बनती हैं ।

निःस्वभावता की यह घोषणा जब प्रासङ्गिक माध्यमिक करते हैं, तो सभी स्वभाववादी भयभीत हो जाते हैं और कहने लगते हैं कि यदि सभी वस्तुएँ स्वभावतः शून्य हों, तो आपके (प्रासङ्गिक के) मत में उत्पाद, विनाश एवं चार आर्यसत्यों की स्थापना आदि कुछ भी नहीं बन सकेगा, हेतु-फल की व्यवस्था न हो सकेगी और आप परम नास्तिक सिद्ध होंगे । इन लोगों का अभिप्राय आचार्य नागार्जुन ने अपनी मूल माध्यमिक कारिका में इस प्रकार कहा है, यथा :

यदि शून्यमिदं सर्वमुदयो नास्ति न व्ययः ।
चतुर्णामार्यसत्यानामभावस्ते प्रसज्यते ॥

अपि च—उन लोगों का कहना है कि लोक में बीज आदि से अङ्कुर-आदि का उत्पाद देखा जाता है । यदि बीज-आदि में अङ्कुर-आदि को उत्पन्न करने की शक्ति स्वभावतः नहीं है, यदि वे (बीज-आदि) संवृति (मिथ्या)-मात्र हों तो उनसे अंकुर-आदि की उत्पत्ति कैसे दिखलाई देती है ? इस आशय को आचार्य धर्मकीर्ति ने अपने प्रमाणवार्तिक नामक ग्रन्थ में इस प्रकार व्यक्त किया है :

अशक्तं सर्वमिति चेद् बीजादेरङ्कुरादिषु ।
दृष्टा शक्तिर्मता सा चेत् संवृत्यास्तु यथा तथा ॥

निष्कर्ष यह है कि ये (स्वभाववादी) लोग निःस्वभावता और अभाव को समानार्थक समझते हैं तथा सत्ता और स्वभावसत्ता को एकार्थक समझते हैं ।

प्रासङ्गिक मत के अनुसार स्वभावसत्ता या स्वतन्त्रसत्ता का पूर्ण निषेध कर देने पर भी वस्तु की सत्ता विद्यमान रहती है । इसीलिए तो इनके मत में सभी वस्तुएँ प्रतीत्यसमुत्पन्न कही जाती हैं । वस्तुओं की स्वाभाविक सत्ता न होने पर ही उनका अस्तित्व (होना), अन्य हेतु, प्रत्यय आदि धर्मों की अपेक्षा से होता है, इसीलिए बीज-आदि धर्म अंकुर-आदि के उत्पाद में समर्थ होते हैं ।

यदि वस्तुओं की स्वतन्त्रसत्ता हो तो उनका हेतु-अवस्था का त्याग करके फल-अवस्था में आना सम्भव न हो सकेगा । वस्तुओं के स्वभाव में परिवर्तन न हो सकने से बन्ध-मोक्ष आदि कुछ भी व्यवस्थाएँ नहीं बन सकेंगी—इस प्रकार स्वभाववादियों के द्वारा प्रासङ्गिक मत में दिये गये उपर्युक्त दोष उन्हीं के मत में पतित होते हैं, निःस्वभावतापक्ष में नहीं । इसी आशय को आचार्य नागार्जुन ने अपनी मूल माध्यमिक कारिका में इस प्रकार व्यक्त किया है :

यद्यशून्यमिदं सर्वमुदयो नास्ति न व्ययः ।
चतुर्णामार्यसत्यानामभावस्ते प्रसज्यते ॥

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि आचार्य नागार्जुन सभी वस्तुओं को खपुष्प की भाँति नहीं मानते; अपितु वे सभी धर्मों की व्यावहारिक सत्ता मानते हैं ।

प्रासङ्गिक घट, पट आदि वस्तुओं और खपुष्प आदि में भेद करते हैं । घट, पट आदि कल्पित मात्र होने पर भी संवृतितः सत् होते हैं । तैर्थिकों के द्वारा परिकल्पित आत्मा, ईश्वर आदि और मायाहस्ती आदि लोक-संवृतितः भी सत् नहीं हैं । आचार्य चन्द्रकीर्ति

ने अपने मध्यमकावतार में इसी आशय को इस प्रकार अभिव्यक्त किया है :

अज्ञानमिद्धोत्क्षुभितैर्यथास्वं,
प्रकल्पितं यत्किल तीर्थिकैश्च ।
मायामरीच्यादिषु कल्पितं यत्;
तल्लोकतश्चापि न विद्यते हि ॥

निःस्वभावता के सिद्धान्त को मानने से प्रासङ्गिक मत में ८ असाधारण मान्यताएँ स्वीकार की जाती हैं :

१. ये (प्रासङ्गिक) प्रतीत्यसमुत्पन्न होने से सभी धर्मों को निःस्वभाव मानते हैं । प्रतीत्यसमुत्पाद के द्वारा शाश्वत और उच्छेद— दोनों अन्तों का परिहार किया जाता है ।

२. सभी धर्मों की निःस्वभावता सिद्ध हो जाने से ही स्वतन्त्र लिङ्ग निषिद्ध हो जाता है और

३. बाह्यार्थ की सत्ता सिद्ध हो जाती है । बाह्यार्थ सिद्ध हो जाने से स्वसंवेदन नहीं माना जाता ।

४. पुद्गल को निःस्वभाव मानने से आलयविज्ञान नहीं माना जाता । आलयविज्ञान न मानने से क्लिष्ट मनोविज्ञान तो माना ही नहीं जा सकता ।

५. आलयविज्ञान न मानने से कुशल, अकुशल कर्म व्यर्थ न हो जाएँ; इसलिए कर्मों के विनाश को वस्तु माना जाता है ।

६. विनाश को वस्तु मानने से अतीत, अनागत एवं प्रत्युत्पन्न–तीनों कालों की असाधारण स्थापना होती है ।

७. स्वभाव ग्रहण करनेवाली धर्मात्मदृष्टि क्लेशावरण मानी जाती हैं । अर्थात् धर्मों को स्वभावतः सत् ग्रहण करने वाली दृष्टि भी क्लेशावरण मानी जाती है ।

८. इसलिए श्रावक एवं प्रत्येकबुद्ध आदि सभी आर्य धर्मनैरात्म्यज्ञान से युक्त पुद्गल माने जाते हैं । अर्थात् शून्यता के साक्षात्कार के बिना किसी भी स्थिति में पुद्गल आर्य नहीं हो सकता ।

इन सभी बातों का सविस्तर वर्णन मध्यमकावतार और उसके भाष्य में उपलब्ध होता है । विस्तृत ज्ञान के लिए उनका अवलोकन करना चाहिए ।

मार्ग एवं फल के सम्बन्ध में ग्रन्थकार ने स्वयं सुस्पष्ट विवेचन किया है ।

उद्देश्य के भेद से मार्ग दो प्रकार का होता है; यथा— हीनयान और महायान । हीनयान श्रावकमार्ग और प्रत्येकबुद्धमार्ग के भेद से दो प्रकार का है तथा महायान पारमितामार्ग और गुह्यतन्त्रमार्ग के भेद से दो प्रकार का होता है ।

गुह्यतन्त्रमार्ग का दर्शन विज्ञानवाद और माध्यमिक दर्शन से भिन्न नहीं है । साधना की दृष्टि से तन्त्रमार्ग पारमितामार्ग से उत्कृष्ट है, जिसके द्वारा साधक अतिशीघ्र बुद्ध हो सकता है । श्रावकमार्ग और पारमितामार्ग की भाँति तन्त्रमार्ग में भी समस्त संसार और सांसारिक भोगों से वैराग्य, दान आदि पारमिताएँ तथा बोधिचित्तोत्पाद—आदि अनिवार्य माने जाते हैं । इनके आधार पर ही तन्त्रमार्ग की विशेष साधनाएँ की जाती हैं । तन्त्र की दो विशेषताएँ हैं—उत्पादक्रम और सम्पन्नक्रम । इन दोनों के आधार पर ही तान्त्रिकमार्ग में आगे-आगे गति होती है । इन दो विशेषताओं के कारण ही बौद्धतन्त्र अन्य तन्त्रों से विशिष्ट (भिन्न) होता है । बौद्धतन्त्र के सभी रहस्य इन दो विशेषताओं के गर्भ में ही स्थित हैं । इनका अल्प शब्दों में परिज्ञान नहीं कराया जा सकता । अतः इन्हें हम यहाँ छोड़ रहे हैं । जिज्ञासुओं को तत्तद् ग्रन्थों से इन्हें जान लेना चाहिए ।

पारमितामार्ग और तन्त्रमार्ग इन दोनों का फल समान रूप से बुद्धत्व ही है । बुद्ध के दो काय हैं—धर्मकाय और रूपी काय ।

इनका तीन कायों में भी विभाग किया जा सकता है, यथा—धर्मकाय, सम्भोगकाय एवं निर्माणकाय । ये चार कायों में भी विभक्त होते हैं, यथा—ज्ञानधर्मकाय, स्वभावधर्मकाय, सम्भोगकाय और निर्माणकाय ।

तिब्बतीय बौद्धधर्म के बारे में अनेक लोगों में अनेक प्रकार की भ्रान्तियाँ देखी जाती हैं, अतः उनके निराकरण के लिए ग्रन्थकार ने अन्त में तिब्बत में बौद्ध धर्म के विकास का संक्षेप में प्रामाणिक निरूपण किया है ।

ग्रन्थ छोटा होने पर भी इसमें सभी ज्ञातव्य बातें संक्षेप से आ गई हैं । हमारे ख्याल से जिज्ञासुओं के लिए यह अत्यन्त उपादेय होगा ।

ग्रन्थ मूलतः तिब्बती भाषा में है । ग्रन्थकार बौद्ध धर्म और दर्शन के मर्मज्ञ पण्डित हैं । उनकी भाषा अत्यन्त उच्चकोटि की, प्राञ्जल, हृदयग्राही एवं अनेक गम्भीर अर्थों से परिपूर्ण है । श्रद्धेय श्री दलाई लामाजी के निर्देशानुसार उनकी कौन्सिल ऑफ़ रिलीज़स अफेयर्स के मन्त्री द्वारा जब मुझे इस ग्रन्थ के हिन्दी अनुवाद का कार्य सौंपा गया तब मुझे प्रथम तो भय लगा कि मेरे जैसा अल्पज्ञ और हिन्दी अच्छी तरह न जाननेवाला व्यक्ति इस कार्य को कैसे सम्पन्न कर सकेगा; किन्तु मैंने बाल्यकाल से ही विशुद्ध शीलवान् और प्रज्ञामूर्ति गुरुओं के चरणों में बैठकर बौद्ध शास्त्रों का अध्ययन किया था, अतः कुछ-कुछ साहस हुआ । तदनन्तर इस विषय में मैंने अपने वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय के गुरुओं श्री जगन्नाथ उपाध्याय और श्री रामशङ्कर त्रिपाठी से परामर्श किया । उन्होंने मुझे पूर्ण सहायता देने का आश्वासन दिया । फलतः मैंने इस कार्य को सम्पन्न करने की स्वीकृति श्री दलाई लामाजी के पास भेज दी ।

सर्वप्रथम मैंने और श्री रामशङ्कर त्रिपाठी जी ने मिलकर बिना कुछ परिवर्तन किये ग्रन्थ का शब्दानुवाद किया । इस कार्य में एक वर्ष लग गया । किन्तु जब पाण्डुलिपि को पढ़ा तो अनुवाद कठिन प्रतीत हुआ । यह स्वाभाविक भी था; क्योंकि तिब्बती भाषा की शैली

और हिन्दी की शैली में मौलिक भेद है । तिब्बती भाषा में संस्कृत की भाँति लम्बे-लम्बे समस्त वाक्य होते हैं । हम लोगो ने पाण्डुलिपि अन्य लोगों को दिखलाई; धर्मशाला स्थित श्री दलाईलामा जी की कौन्सिल ऑफ़ रिलिज़स अफेयर्स के अधिकारियों को भी दिखलाई, सभी लोगों ने इसे सरल करने का परामर्श दिया ।

तदनन्तर हम लोगों ने सरल करने की दृष्टि से पूरे ग्रन्थ का फिर से अनुवाद किया । ग्रन्थकार के भाव को सुरक्षित रखते हुए लम्बे-लम्बे वाक्यों को छोटे-छोटे दो, तीन वाक्यों में विभक्त किया । समझाने की दृष्टि से कभी-कभी एक-दो वाक्य अपनी ओर से भी जोड़े । हिन्दी की शैली को हमेशा ध्यान में रखा । इस प्रकार यह पीछे का अनुवाद पूर्णतः शब्दानुवाद न होकर भावानुवाद हो गया ।

ग्रन्थकार ने ग्रन्थों में तिब्बती में अनूदित अनेक बुद्धवचनों एवं शास्त्रों के वचन उद्धृत किये हैं । उनमें से अनेक ग्रन्थ तो संस्कृत भाषा में उपलब्ध हो गये; किन्तु आचार्य चन्द्रकीर्तिकृत मध्यमकावतार, त्रिशरणसप्तति, आचार्य उद्भट त्रिपिटकमलकृत न्यायत्रयप्रदीप, आचार्य नागार्जुन का सुहृल्लेख, तथा वज्रपञ्जर (बुद्धवचन) ग्रन्थ संस्कृत में उपलब्ध नहीं हैं । हमने तिब्बती के आधार पर उनका पुनः संस्कृत में निर्माण किया । ग्रन्थ में आचार्य मैत्रेयनाथ कृत मध्यान्तविभाग के भी अनेक तिब्बती में अनूदित श्लोक उद्धृत हैं । यद्यपि जबलपुर विश्वविद्यालय के डॉ. चन्द्रधर शर्मा द्वारा सम्पादित मध्यान्तविभाग संस्कृत में प्रकाशित हुआ है; किन्तु वह तिब्बती अनुवाद से बहुत कुछ भिन्न है । तिब्बती अनुवाद के कुछ उद्धरण उस ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं हुए । फलतः हमें मध्यान्तविभाग के भी अनेक श्लोक तिब्बती के आधार पर संस्कृत में बनाने पड़े ।

जिन वचनों को हमने संस्कृत में बनाया, उन्हें हमने कोष्ठक [ ] में दिया है तथा वहाँ हमने 'संस्कृत छाया' लिख भी दिया है । यह हो सकता है कि हमारे द्वारा बनाये हुए श्लोकों में भाषा, छन्द आदि की दृष्टि से अशुद्धि रह गई हो । विवेकशील और शास्त्रज्ञ

विद्वान् उन त्रुटियों की ओर ध्यान दिलाएँगे अथवा यदि भविष्य में संस्कृत मूल मिल गया तो हम उन्हें ठीक कर देंगे ।

परमपूज्य पुण्डरीकधर श्रद्धेय श्री दलाईलामा जी—जिन्होंने इस गम्भीर शास्त्र का निर्माण किया है—से मेरी हार्दिक प्रार्थना है कि वे कृपा कर मुझे अनेक जन्मपर्यन्त अनुगृहीत करें ।

मैं अपने पूज्य गुरुओं के चरणकमल शिरोधार्य करता हूँ, जिन्होंने मेरी बुद्धि दार्शनिक क्षेत्र में प्रतिष्ठित की है ।

मैं अपने गुरु पण्डित श्री जगन्नाथ उपाध्याय (अध्यक्ष, बौद्धदर्शन विभाग, वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी) का अत्यन्त आभारी हूँ, जिन्होंने अनेक बहुमूल्य सुझाव देकर तथा कठिन स्थलों के अनुवाद कार्य में सहायता देकर हमारी सहायता की ।

मैं अपने गुरु श्री रामशङ्कर त्रिपाठी (अध्यापक, वा0सं0वि0वि0, वाराणसी) का विशेषरूप से चिरकृतज्ञ रहूँगा; जिन्होंने अनुवाद से लेकर सम्पादन और प्रकाशन तक अपना बहुमूल्य समय देकर हमारी सहायता की ।

मैं डॉ0 रामअवध पाण्डेय और श्री मुरलीधर पाण्डेय (अध्यापक, वा0सं0वि0वि0, वाराणसी) का आभारी हूँ, जिन्होंने तिब्बती उद्धरणों के संस्कृतीकरण में हमारी मदद की ।

श्री लक्ष्मीनारायण तिवारी (अध्यापक, पालिविभाग, वा0सं0वि0वि0, वाराणसी) ने समय समय पर हमें बहुमूल्य सुझाव दिये, इसके लिए हम उनके प्रति अपना आभार प्रदर्शित करते हैं ।

मैं श्री दलाई लामा जी की कौन्सिल ऑफ़ रिलिज़स अफेयर्स के अधिकारियों को हार्दिक धन्यवाद देता हूँ, जिन्होंने इस ग्रन्थ का प्रकाशन कराकर एक पुनीत कार्य किया है ।

अन्त में मैं इण्डियन-प्रेस के व्यवस्थापकों और कर्मचारियों को धन्यवाद देता हूँ, जिन्होंने सहृदयता और शीघ्रता के साथ इस ग्रन्थ का मुद्रण किया ।

भवतु सर्वमङ्गलम् ।

सम्पूर्णानन्द संस्कृतविश्वविद्यालय, थुबतन छोगडुब
वाराणसी

दिनाङ्क १५-११-६४

विषयानुक्रमणिका

——

भूमिका

लोक में अनभीष्ट की प्राप्ति एवं सभी विपत्तियों का मूल, धर्म का श्रवण न करना एवं धर्मश्रवण करने पर भी तदनुकूल आचरण न करना है । जो सद्धर्म का स्वरूप जानते हैं और उसका अविपरीत आचरण करते हैं, उन्हें तात्कालिक एवं भविष्यत्कालिक सुखरत्नों की निधियाँ अनायास हस्तगत हो जाती हैं । इस बात को मन में रखकर सद्धर्म का स्वरूप समझाने के लिए मैंने इस शास्त्र की रचना की है । भगवान् बुद्ध द्वारा उपदिष्ट धर्म समुद्र की भाँति गम्भीर और अतिविस्तृत है । मैंने बुद्धवचनों का अनुशीलन कर उनका अमृतरूपी सार संक्षिप्त एवं सरल शब्दों में इस ग्रन्थ में उपनिबद्ध किया है । इसके अध्ययन से उस उत्तम मार्ग का ज्ञान होगा, जिससे भगवान् सम्यक् संबुद्ध हुए थे । इसके स्वाध्याय से उन सभी प्राच्य, पाश्चात्त्य, भारतीय एवं भोटदेशीय सज्जनों को लाभ होगा, जिनकी बुद्धि पटु एवं अकुटिल है तथा जो धर्म के ऋजु मार्ग पर चलने को उद्यत हैं ।

ग्रन्थ के आरम्भ में धर्म में नवदीक्षित लोगों को धर्म की ओर प्रेरित करने के लिए 'धर्म क्यों कर्त्तव्य है ?'—इसके लिए सङ्क्षेप में युक्तियाँ प्रदर्शित की गई हैं । तदनन्तर मार्ग एवं फल–विषयक निश्चय कराने के लिए मूल सत्यद्वय की स्थापना की गई है । तत्पश्चात् आत्मदृष्टि–आदि समस्त हेयों की क्रमशः निवृत्ति के (शून्यता का अविपरीत ज्ञान आदि सम्पूर्ण) उपायों को दिखलाने–वाले भगवान् बुद्ध के सभी वचन त्रिपिटक में जिस प्रकार संगृहीत हैं—इसका मर्म दिखलाया गया है ।

तीन (शील, समाधि एवं प्रज्ञा) अधिशिक्षाओं में से प्रथम अधिशील **शिक्षा** अन्य दो शिक्षाओं की आधर है । यह त्रिपिटक का अभिधेय है । अतः धर्म में नवदीक्षित श्रद्धावान् पुरुषों के लिए १० अकुशलविरतिशील का व्याख्यान विस्तारपूर्वक किया गया है तथा प्रातिमोक्षशील, बोधिसत्त्वशील एवं गुह्यतान्त्रिक शील का दिङ्मात्र निर्देश किया गया है ।

चित्तैकाग्रता (समाधि) के बिना केवल प्रज्ञा द्वारा सवासन साम्रवों का समुन्मूलन असम्भव है, अतः लोकोत्तर मार्ग के साधनभूत शमथ और आठ ध्यानसमापत्तियों को सिद्ध करने की विधि समाधिशिक्षा में दिखलाई गयी है ।

शमथ और किसी ध्यानसमापत्ति के आधार पर लोकोत्तर मार्ग सिद्ध किया जा सकता है । परमार्थ परिच्छेदक प्रज्ञा एक विशिष्ट प्रज्ञा है, जो हेय सत्यग्राहक दृष्टि (अविद्या) की प्रतिपक्ष है । इसके बिना भव (संसार) का मूल निवृत्त नहीं हो सकता । अतः प्रस्तुत ग्रन्थ में हमने धर्म और पुद्‌गल नैरात्म्य (प्रज्ञा शिक्षा) का प्रतिपादन नागार्जुन और आर्यदेव आदि प्रासङ्गिक माध्यमिक आचार्यों के अनुसार किया है ।

इन तीन अधिशिक्षाओं की भावना समानरूप से तीनों यानों में की जाती है ।

हीनयानगोत्रीय विनेयजनों के लिए श्रावक एवं प्रत्येकबुद्ध के उन पाँच मार्गों का वर्णन किया गया है, जो संसार के प्रति वैराग्यचेतना द्वारा उत्पन्न होते हैं । महायानगोत्रीय विनेयजनों के लिए करुणामूलक बोधिचित्त से उत्पन्न होनेवाले पारमितायान के पाँच मार्गों और दस भूमियों का वर्णन किया गया है । महायानिक गुह्यतन्त्रयान पारमितायान से उत्कृष्ट है । इसकी अनेक विशेषताएँ हैं । अतितीक्ष्णेन्द्रिय विनेयजनों के लिए इस तन्त्रयान में प्रवेश का दिङ्‌मात्र निर्देश किया गया है ।

तदनन्तर अन्तिम लक्ष्यरूपी धर्मकाय एवं रूपकाय अथवा दो धर्मकाय एवं दो रूपकायों का वर्णन किया गया है तथा कर्म के सहित बुद्ध के गुणों का वर्णन किया गया है ।

उपर्युक्त अभिधेयों का प्रतिपादन प्रधानतः विज्ञानवादी और माध्यमिक दृष्टिकोण के अनुसार किया गया है । साथ ही भोटदेशीय बौद्धधर्म का उदय, धार्मिक सम्प्रदायों का भेद, तथा सभी सम्प्रदायों

की अन्तिम लक्ष्य-सम्बन्धी एकता का संक्षेप में प्रतिपादन किया गया है ।

ये ही इस ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषय हैं ।

इस शास्त्र में पक्ष-प्रतिपक्ष के विस्तृत शास्त्रार्थ आदि प्रपञ्च छोड़ दिये गये हैं । केवल तत्त्वज्ञानमात्र का प्रामाणिक शास्त्रों से अविरुद्ध विवेचन सरल एवं स्पष्ट शब्दों में किया गया है ।

जिस प्रकार एक छोटा सा दीपक अन्धकार को दूर करता है और बहुमूल्य रत्नकोष प्रकाशित करता है, उसी प्रकार इस छोटे से ग्रन्थ के द्वारा अज्ञान निवृत्त होकर समस्त बुद्धवचनों का अभिप्राय प्रकाशित हो सकता है । यदि इस ग्रन्थ में उल्लिखित तत्त्वों का सूक्ष्म विवेचन करके उनकी भावना की जाए तो उसके फलस्वरूप वस्तु (सत्यद्वय), मार्ग एवं फल विषयक अज्ञान निवृत्त होकर तथागत के वचनों के अभिप्राय का शीघ्र अवबोध होगा । अन्ततोगत्वा स्वयम्भू ज्ञान में अधिकार होगा, जो (ज्ञान) आकाश के समान असीम है तथा इससे निधि के समान अक्षय प्रतिभान का उद्घाटन होगा ।

२५०८ बुद्धाब्द

दलाई लामा

•

परमपावन श्रद्धेय दलाई लामा जी द्वारा प्रणीत

बौद्ध सिद्धान्त सार

[बालमतिनयनोन्मीलक सुभाषित]

बौद्ध सिद्धान्त सार

[बालमतिनयनोन्मीलक सुभाषित]

नमो धर्मप्रविचयपर्यन्तज्ञानाय[1]

बौद्ध परम्परा के अनुसार चौथे शास्ता[2] गौतम बुद्ध के ५ हजार वर्षों के शासनकाल में आज का वर्तमान काल 'शीलकाल'[3] है ।

इस काल का गौरव शील के आचरण में है । यद्यपि आज भौतिक विज्ञान की उत्तरोत्तर वृद्धि हो रही है और वह अशोभन भी नहीं है; किन्तु उसी के अनुपात में आध्यात्मिक चिन्तन तथा शील में भी उन्नति होनी चाहिए । बौद्ध धर्म इस दिशा में बहुत उपयोगी हो

---

१. धर्मप्रविचय प्रज्ञा है । इसके द्वारा समस्त धर्मों का कुशल-अकुशल; लौकिक-अलौकिक; संस्कृत-असंस्कृत आदि में विभाजन किया जाता है । प्रज्ञा एक कुशल धर्म है । अभ्यास द्वारा उसमें प्रकर्षता लायी जाती है । प्रकर्ष पूर्ण होने पर उसे 'प्रज्ञापारमिता' कहते हैं । यह बुद्ध का ज्ञान है । इसीलिए बौद्धपरम्परा में उसके प्रति आदरभाव व्यक्त करने के लिए ग्रन्थों के आरम्भ में उसे नमस्कार किया जाता है ।

२. इस भद्रकल्प में क्रमशः १००८ बुद्ध इस जम्बूद्वीप में उत्तम निर्माण काय के रूप में आते हैं । गौतम बुद्ध से पहले क्रकुच्छन्द, कनकमुनि और काश्यप ये तीन बुद्ध आ चुके हैं । शुद्धोदन के पुत्र गौतम बुद्ध चौथे शास्ता हैं ।

३. भगवान् गौतम बुद्ध के शासन का काल ५ हजार वर्ष है । इसके ५००-५०० वर्ष के १० भाग किये जाते हैं । प्रथम ५०० वर्ष में पुद्गल अधिकतर अर्हत् होते हैं, अतः उस काल को 'अर्हत्काल' कहते हैं । इसी प्रकार द्वितीय ५०० वर्षों को 'अनागामी काल' तथा तृतीय ५०० वर्षों को 'स्रोत आपन्न काल' कहते हैं । ये १५०० वर्ष 'बोधिकाल' कहे जाते हैं । चतुर्थ ५०० वर्षों में प्रज्ञा का आधिक्य होता है, अतः उसे 'प्रज्ञा काल' कहते हैं । उसी प्रकार पञ्चम ५०० वर्ष 'समाधिकाल' तथा षष्ठ ५०० वर्ष 'शीलकाल' कहे जाते हैं । ये १५०० वर्ष 'साधनाकाल' कहे जाते हैं । इसी तरह आगे ५००-५०० वर्षों के 'अभिधर्मकाल' 'सूत्रकाल' और 'विनय काल' होते हैं । इन तीनों को 'आगम काल' कहते हैं । अन्तिम काल को 'चिह्नमात्र धारण काल' कहते हैं । इसमें साधना आदि प्रायः सब नष्ट हो जाते हैं, लोग केवल प्रव्रज्या के चिह्नमात्र धारण करते हैं ।

सकता है; क्योंकि इस धर्म ने अनेकानेक शताब्दियों से आध्यात्मिक विद्या के क्षेत्र में बड़ी उन्नति की है और मानसिक चिन्तन एवं भावनाओं की सिद्धि के लिए मार्ग का निर्देश किया है । आज इन सब सामग्रियों का उचित उपयोग होना चाहिए ।

एतदर्थ सर्वप्रथम यह आवश्यक है कि बौद्ध शास्त्रों से जनता को परिचित कराया जाए । शास्त्रों में निर्दिष्ट गम्भीर विचारों को जनता के समक्ष उपस्थित किया जाए । किन्तु विस्तृत एवं गहन शास्त्रों के अध्ययन के लिए कुछ अधिक काल अपेक्षित है, जो इस युग में दुर्लभ हो रहा है, इसलिए मैंने सोचा कि मैं थोड़े शब्दों में सुगम एवं सुबोध रीति से धर्म के कुछ तत्त्वों को एक पुस्तिका के रूप में निबद्ध करूँ । इसी अभिप्राय से मैंने इसका नाम 'बालमतिनयनोन्मीलक' रखा है । वस्तुतः यह सङ्क्षेप में बौद्ध सिद्धान्तों का सार है ।

धर्म

जीवों को विविध दुःखों से मुक्त करने के लिए उपाय खोजना हमारा परम कर्त्तव्य है । किसी भी युग में सुख की प्राप्ति और दुःख का परिहार–इसी को पुरुषार्थ माना गया है । सुख की अभिलाषा बुद्धि और विद्या से सम्पन्न मनुष्य में ही नहीं; अपितु समस्त प्राणी जगत् में विद्यमान है । दुःख का परिहार पुरुषार्थ करने से ही हो सकता है । जीवन में केवल बड़ी–बड़ी आशाएँ करना और उनकी सिद्धि की प्रतीक्षा में बैठे रहना, उचित नहीं है; वस्तुतः आलस्य से न तो दुःख मिटाया जा सकता है और न सुख प्राप्त किया जा सकता है । दुःख के कुछ कारण हैं । उन मूल कारणों को खोजना होगा । यदि हम उन कारणों को समाप्त कर सकें तो मानव जीवन को सुखी एवं सम्पन्न बना सकते हैं । हित एवं सुख के कारणों को अपनाना होगा तथा अहित एवं दुःख के कारणों का त्याग करना होगा । धर्म इसके लिए मार्ग दिखलाता है । धर्म के अतिरिक्त अन्य कोई भी ऐसा उपाय नहीं है, जिसके द्वारा इस उद्देश्य की सम्यग् और परिपूर्ण रूप से सिद्धि की जा सके । धर्म के आधार पर केवल इसी जन्म को नहीं; अपितु अगले जन्मों को भी सुख सम्पन्न बनाया जा सकता है और दुःखों का नाश किया जा

सकता है । उक्त उद्देश्य की सिद्धि के लिए यह आवश्यक है कि धर्म के मर्म को समझा जाए । धर्मज्ञ व्यक्ति और अधार्मिक व्यक्ति के आचरणों में बड़ा अन्तर पड़ जाता है । शारीरिक एवं मानसिक दुःखों की घटनाएँ जीवन में आती ही रहती हैं; किन्तु उनके सहन करने एवं उन्हें नष्ट करने के प्रकार में तथा दुःखानुभूति की तीव्रता एवं अल्पता में धार्मिक एवं अधार्मिक व्यक्तियों में बड़ा अन्तर होता है ।

किसी भी प्रकार की वेदनाएँ, चाहे वे सुख हों, चाहे दुःख हों—अकारण नहीं होतीं । शास्त्रों के द्वारा समस्त सुख-दुःखो का कार्य-कारण सम्बन्ध बताया जाता है । धर्म से अनभिज्ञ व्यक्ति इन कार्यकारण के सम्बन्धों को समझ नहीं पाता । उस अनभिज्ञ व्यक्ति के लिए दुःख, सुख आदि आकस्मिक विपत्ति या हर्ष के समान प्रतीत होते हैं । धर्म का मर्म यही है कि वह व्यक्ति या समाज को बता सके कि उस पर आई हुई विपत्तियों के कारण क्या हैं और उनसे छुटकारा पाने का उपाय क्या है । सच्चा धार्मिक व्यक्ति इस सत्य को स्वीकार करता है कि मनुष्यों के सुख-दुःखों के भोगों का कारण वह स्वयं है । अपने किये हुए कर्मों का ही फल मनुष्य पाता है । उसके पाप कर्मों का फल दुःख और कुशल कर्मों का फल सुख है । इसके विपरीत अधार्मिक व्यक्ति कार्यकारणभाव का ज्ञान न रखने के कारण शारीरिक दुःख आने पर शारीरिक दुःख के साथ-साथ मानसिक दुःख से भी पीड़ित होते हैं अर्थात् उन्हें सुख का किंचित् भी अवसर नहीं है ।

मनुष्य का व्यक्तित्व काय और चित्त से बना है । इन दोनों में चित्त ही प्रधान है । एक प्रकार से चित्त शरीर का स्वामी है । इसलिए शारीरिक सुख-दुःख का भोग बहुत कुछ चित्त के ऊपर ही निर्भर करता है । विलास के साधनों को सञ्चित करना, उसके लिए अनेकानेक कष्टों को सहने के लिए तत्पर रहना, सञ्चित साधनों को उत्तरोत्तर बढ़ाते जाने की उत्कट अभिलाषा रखना, उनको अनेकानेक विघ्नों से सुरक्षित रखना—इन सब कार्यों के लिए मित्रवर्ग एवं शत्रुवर्ग खड़ा करके राग-द्वेष की एक परम्परा खड़ी कर लेना—ये सब वृत्तियाँ मानसिक घात-प्रतिघात से ही उत्पन्न होती हैं ।

धर्म का मर्म यह बताना है कि वासना के समस्त साधन धन–धान्य आदि की सत्ता तृण के अग्र भाग पर स्थित ओस की बिन्दु के समान हैं । धर्म की यह घोषणा काल्पनिक नहीं है, यथार्थ है । किसी वस्तु की यथार्थता को समझने के लिए उसके पूर्व उद्भूत एवं विकसित होने वाले कारणों को समझना चाहिए । धर्म की वैज्ञानिकता यही है कि वह कारण एवं उसके परिणामों की पूर्ण परीक्षा करने का मार्ग बताता है । संसार की निःसारता एक ऐसा यथार्थ है, जिसे व्यक्ति सरलतापूर्वक समझ नहीं पाता । इसके समझ लेने पर व्यक्ति के आचरण में बड़ा अन्तर हो जाता है । राग, द्वेष, प्रेम एवं आसक्ति का आधार ही बदल जाता है । धर्म से अनभिज्ञ व्यक्ति पर इन वृत्तियों का जैसा दुर्दान्त प्रभाव पड़ता है, वह उसके कारणों को जान लेने के बाद नहीं रहता । राग–द्वेष–जनित घटनाओं का प्रभाव हल्का हो जाता है और मन सहिष्णु बन जाता है । सहिष्णुता और विवेक के कारण मन उनके आक्रमणों को धैर्यपूर्वक सह लेता है और स्थिर चित्त होकर उनके निराकरण का उपाय भी खोज लेता है । धर्म मनुष्य में यह साहस पैदा करता है कि वह सोच सके कि वह बाहरी और भीतरी कष्टों से अपने को मुक्त कर सकता है और समाज में जो दुःखप्रवाह चल रहा है, उसे कम करने या सर्वथा विच्छिन्न करने में समर्थ हो सकता है ।

धर्म के सम्बन्ध में अज्ञान रहने के कारण ही उत्तरोत्तर शत्रुओं की परम्परा, अपने–अपने स्वार्थ सिद्ध करने की होड़, इस संघर्ष में अन्यों को पराजित कर अपने को विजयी बनाने की अनवरत चेष्टा, इसी दृष्टि से अपने–अपने राष्ट्रों को भी सशक्त तथा हिंस्र अस्त्र–शस्त्रों से परिपूर्ण करने का प्रयास, पुनः इन राष्ट्रों में परस्पर कलह से विवश होकर भयङ्कर युद्ध–आदि की रचना, भयङ्कर युद्धाग्नि में असंख्य निर्दोष प्राणियों को होम देने तक के लिए तैयार रहना— यह सब स्वाभाविक सा हो जाता है । इन अनेकानेक प्रकार की दुर्दान्त घटनाओं से राग, द्वेष, मोह, क्रोध, क्रूरता, हिंसा आदि के तीव्र प्रवाह तूफानी नदियों के समान बहने लगते हैं, फलतः निरीह प्राणी विवश होकर उस दुःख प्रवाह में जीवन व्यतीत करते हैं । धर्म को जानने एवं तदनुकूल उचित व्यवस्था करने से इस दुःख–प्रवाह को कम किया जा सकता है अथवा निरुद्ध किया जा सकता है ।

पहले कहा गया है कि मनुष्य जीवन में चित्त की ही प्रधानता है । अहङ्कार, ईर्ष्या, राग, द्वेष, मोह—आदि इसी चित्त की वृत्तियाँ हैं । ये अकुशल धर्म हैं । प्रेम, दया, करुणा, सेवा, त्याग, वैराग्य, श्रद्धा—आदि वृत्तियाँ भी चित्त में ही उत्पन्न होती हैं । ये कुशल धर्म हैं । धर्म की इन कुशल शक्तियों से चित्त के राग आदि दोषों को शान्त किया जा सकता है । कुशल धर्म मनुष्य को दोषों से आसक्त होने से बचाते हैं । 'ह्री' एक इस प्रकार की लज्जा है, जो बुरे कार्यों से मनुष्य को रोकती ह और मैत्री, करुणा, मुदिता के प्रति गौरव बुद्धि बढ़ाती है । अपत्राप्य छोटे से छोटे अनैतिक कार्यों से मनुष्य को बचाता है, पाप करने में भय उत्पन्न करता है । इस प्रकार ह्री एवं अपत्राप्य—ये दोनों मनुष्यों को बुराइयों से बचाने के लिए पहरेदार हैं । इनसे मनुष्य विविध प्रकार के प्रमादों से बचता है और सन्तोषपूर्वक जीवन व्यतीत करता है । ऐसे व्यक्ति को जीवन में सुख एवं शान्ति का आभास मिलता है और कभी उसे कष्टों की असह्यता प्रतीत नहीं होती । धर्म के इस मर्म को समझने की आवश्यकता है और आवश्यकता है उसे अपने जीवन में आत्मसात् करने की ।

पुनर्जन्म

एक दूसरी बात की तरफ भी दृष्टि जानी चाहिए, वह यह कि मनुष्य का वर्तमान जीवन ही सब कुछ नहीं है । इसी जीवन को सुखी और सम्पन्न बना लेने में कर्त्तव्यों की इतिश्री नहीं हो जाती । भविष्य लम्बा है । पुनर्जन्म भी है । गन्तव्य मार्ग अत्यन्त दीर्घ है । अतः उन सभी जन्मों में सुख प्राप्त करने के लिए एवं दुःखों का परिहार करने के लिए हमें उपाय करने होंगे । अन्ततोगत्वा जीवन का चरम लक्ष्य लौकिक सुख, दुःख आदि की परम्परा से मुक्त होकर परम सुख एवं शान्ति लाभ करना है ।

ऐहिक सुख की प्राप्ति ही पर्याप्त नहीं है, इस जीवन के साथ ही ऐहिक सुख की भी समाप्ति हो जाती है । किन्तु जीवन का गन्तव्य मार्ग अत्यन्त दीर्घ है । उन जन्मों में भी जीवन सुखी रहे, इसके लिए उपाय करना चाहिए । यह कार्य धर्म के द्वारा ही सम्पन्न किया जा सकता है ।

जो लोग धर्म से अनभिज्ञ हैं, धर्म के आन्तरिक रहस्यों को अच्छी तरह नहीं जानते, वे अन्यान्य जन्मों के प्रति सन्देह करते हैं । वे समझते हैं कि वर्तमान जीवन में जो चैतन्य (चित्) भासित होता है, वह इस दृष्ट काय के सर्वथा आश्रित है । इस दृष्ट जीवन के अतिरिक्त इस (जीवन) का पूर्वापर जन्मों से कोई सम्बन्ध नहीं है । क्योंकि उनकी दृष्टि में वस्तु की सत्ता के लिए उसका प्रत्यक्ष होना भी आवश्यक है । मृत्यु के समय काय चार महाभूतों में लीन हो जाता है । और काय पर आश्रित चैतन्य आकाश में इन्द्रधनुष के समान विलीन हो जाता है । ये लोग कायाश्रयता के अतिरिक्त बुद्धि की स्वतन्त्र सत्ता नहीं मानते । मदकारक वस्तुओं से जैसे मद की शक्ति उत्पन्न होती है और उन दोनों में अभिन्नता होती है, वैसे ही मन काय से उत्पन्न है और उससे अभिन्न है । जैसे दीप का प्रकाश दीप का फल है, वैसे ही चित्त काय का फल है । मन काय का वैसे ही गुण है, जैसे भित्तिचित्र भित्ति का । इस प्रकार ये भौतिकवादी अपने विचारों को उपस्थित करते हैं ।

उनके उपर्युक्त कथन का दार्शनिक दृष्टि से सारांश यह है कि वर्तमान जन्म का चित्त, सजातीय चित्तान्तर से उत्पन्न न होकर विजातीय अचेतन महाभूतों से उत्पन्न होता है ।

इस सम्बन्ध में अन्य स्वभाववादी तार्किक लोग कहते हैं कि वस्तुओं की उत्पत्ति का कोई कारण नहीं है । कण्टक में जो तीक्ष्णता है, मयूर के पुच्छ पर जो वर्ण-वैचित्र्य है, उसे किसने बनाया है ? इसके कर्ता को किसने देखा है ? दानादि धर्म या अहिंसा का फल अच्छा ही होता है—यह किसने देखा है ? संसार में कृपण का धनी होना, हिंसक का दीर्घायु होना भी देखा जाता है । वस्तुतः इन सबके बीच में कार्यकारण के सम्बन्ध की कल्पना करना उचित नहीं है ।

प्राचीन काल में कुछ ध्यान-सम्पन्न आचार्य कहते थे कि उन्होंने अपनी अभिज्ञा शक्ति के द्वारा देखा है कि पूर्व जन्म का कृपण सत्त्व अगले जन्मों में समृद्ध कुल में भी उत्पन्न हुआ है । इसके आधार पर उनका मत था कि पूर्व जन्म का सिद्धान्त तो ठीक है; किन्तु पूर्व-अपर जन्मों के बीच में कार्य-कारण का सम्बन्ध

बैठाना ठीक नहीं है । कुछ साधकों ने समाधि द्वारा रूप एवं अरूप ध्यानों की उच्च भूमिका पर प्रतिष्ठित होकर अपने में मुक्तिसंज्ञा उत्पन्न की । फलतः उन्हें ऐसा अनुभव होने लगा कि हम मुक्त हो गये; किन्तु ध्यान से व्युत्थित होने पर जब उन्होंने अपने को पुनः पुनर्भव के योग्य देखा तो यह निश्चित किया कि वस्तुतः मोक्ष नहीं हुआ करता । इस प्रकार अनेकानेक मतवादी हैं ।

परन्तु पुनर्जन्मवाद के पक्ष में सुदृढ़ तर्क हैं, जिनसे उसकी स्थापना निश्चित होती है । चित्तगत कोई भी ज्ञान अपने पूर्व सजातीय चित्तान्तर से ही उत्पन्न होता है । सामान्य जीवन इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है । बालक, युवा या वृद्ध कोई भी अपनी आयु के विगत वर्षों के विचारों का स्मरण करता है । उसके अनुभवों की सारी पूँजी विगत ज्ञानों पर आधारित है । जीवन वस्तुतः एक ज्ञानप्रवाह है । परवर्ती (अगला) ज्ञान पूर्व ज्ञान का फल है । यह प्रत्यक्ष दृष्ट है कि कोई भी ज्ञान पूर्व हेतु के बिना उत्पन्न नहीं होता और न तो किसी भी ज्ञान का हेतु कोई नित्य पदार्थ होता है । इसी प्रकार ज्ञान विजातीय जड उपादानों से भी उत्पन्न नहीं होता । चैतन्य सजातीय हेतुओं से उत्पन्न होकर सजातीय फल के रूप में हमारे सामने उपस्थित होता है, जिसे हम वर्तमान जीवन कहते हैं । प्रत्येक चित्त चित्तान्तर से ही उत्पन्न है । जन्म एक भौतिक अवयव-संघातों की उत्पत्तिमात्र नहीं है; अपितु वह स्वयं में एक चेतना भी है और वह भी अपनी पूर्ववर्ती सजातीय चेतना से ही उत्पन्न होती है । इसलिए वर्तमान जन्म न तो अहेतुक है, न उसका हेतु नित्य है और न जड ही । 'जीवन सजातीय चित्तों का प्रवाह है'—यह कहने का अभिप्राय है कि वर्तमान चित्त पूर्ववर्ती चित्त के सदृश है अर्थात् प्रत्येक चित्त स्वसदृश पूर्ववर्ती चित्त का फल है । इसी अर्थ में सजातीयता है । चित्त प्रभास्वर एवं प्रकाशरूप है । यह केवल ज्ञान है । यह अपने स्वरूप में किसी भी प्रकार से जड से अनुविद्ध नहीं है । ऐसे ज्ञान सन्तान को ही चित्त का सजातीय प्रवाह कहते हैं । इस प्रकार के ज्ञान का असाधारण कारण शरीर-आदि जड पदार्थ नहीं हो सकते; अन्यथा शरीर की वृद्धि और ह्रास के साथ ज्ञान में भी वृद्धि और ह्रास होने लगेगा तथा मृत शरीर में भी चित्त की उत्पत्ति होने लगेगी ।

यह ठीक है कि चित्त के साथ शरीर का सम्बन्ध देखा जाता है; किन्तु इस प्रकार का सम्बन्ध देखा जाने मात्र से शरीर चित्त का उपादान कारण नहीं बन सकता । यह भी ठीक है कि चित्त की वृद्धि एवं ह्रास में भौतिक शरीर का भी योगदान है; किन्तु इतने से भी शरीर उपादान कारण नहीं बन सकता । शरीर चित्त का केवल सहकारी कारण है । वस्तुतः जड के लिए चित्त का उपादान कारण होना सम्भव भी नहीं है । जड अचित् है और चित्त चिद्रूप है । अचित् का चित् रूप में परिवर्तन या चित् का अचित् रूप में परिवर्तन नहीं माना जा सकता । क्योंकि चित् एवं अचित् का स्वभाव परस्पर अत्यन्त भिन्न होने से एक का दूसरे में परिवर्तन सर्वथा असम्भव है तथा उनकी प्रवृत्ति एवं निवृत्ति में भी कोई तुल्यता नहीं है ।

शरीर का उपादान कारण माता-पिता का शुक्र-शोणित है । किन्तु वे पुत्र के चित्त के उपादान कारण नहीं बन सकते । पुत्र में पिता-माता के ज्ञान का भी सङ्क्रमण नहीं होता । इसीलिए जैसे माता-पिता के भौतिक अंश चित्त के उपादान कारण नहीं होते वैसे माता-पिता का चित्त भी पुत्र के चित्त का उपादान कारण नहीं है । वस्तुस्थिति यह है कि पूर्व जन्म का चित्त ही वर्तमान चित्त का उपादान कारण है । पिता-माता के शुक्र-शोणित पुत्र के शुक्र-शोणित के उपादान कारण अवश्य हैं ।

यहाँ एक प्रश्न उठता है कि चित्त का शरीर के साथ उपादान एवं उपादेय सम्बन्ध नहीं है तो शरीर के साथ चित्त के सम्बन्ध का कारण क्या है ? कर्म ही कारण है । पूर्व जन्म के कर्मों के फलस्वरूप इस जन्म के चित्त एवं शरीर का सम्बन्ध स्थापित होता है । कर्म चेतना स्वभाव है । वह कर्मचेतना पूर्व जन्म में किये गये अच्छे बुरे सभी का प्रतिनिधि है । इसलिए उसी के द्वारा चित्त एवं शरीर के सम्बन्ध की सुनिश्चित एवं अपरिवर्तनीय व्यवस्था की जाती है । पूर्व जन्म के कर्म ही जब इस जन्म के शरीर एवं चित्त में सम्बन्ध स्थापित करते हैं, तभी देखा जाता है कि सद्यः उत्पन्न मानव शिशु एवं गोवत्स आदि पूर्वाभ्यासवश भोजन-पान, राग-द्वेष आदि से प्रेरित होकर अनेकानेक तदनुकूल व्यापार करने

लगते हैं । निश्चय ही ये सब प्रवृत्तियाँ पूर्व सञ्चित वासना से प्रेरित हैं[१] ।

किसी वस्तु का प्रत्यक्ष न होना मात्र उस वस्तु के अभाव को सिद्ध नहीं करता । फिर आज के वैज्ञानिक युग में तो ऐसा कहना और भी हास्यास्पद है; जब कि प्रतिदिन उत्तरोत्तर अद्भुत आविष्कार होते जा रहे हैं ।

समाधि मन की उच्चतम अवस्था है, उसके द्वारा मन सूक्ष्मग्राही हो जाता है । समाधिरत महापुरुषों ने पूर्वजन्म का प्रत्यक्ष किया है । कुछ शक्तिमान् साधकों को तो अपने पूर्वजन्मों का स्मरण इस जन्म में भी होता है । समाधिस्थ लोगों की बात छोड़ भी दें तो भी देश-विदेशों की अनेकानेक प्रत्यक्ष घटनाओं ने आधुनिक लोगों का ध्यान भी पुनर्जन्म की ओर आकृष्ट किया है । आये दिन छोटे-छोटे बच्चे अपने पूर्व जन्मों के कार्यों का वर्णन करते हैं और उन स्थानों को और वहाँ के व्यक्तियों के साथ अपने स्थापित सम्बन्धों को बताते हैं, जो सत्य सिद्ध होते हैं । भोट देश में भी अपने पूर्व जन्मों का स्मरण करने वाले और उस समय के व्यक्तियों एवं सामग्री का परिचय देने वाले अनेकानेक पुरुष होते रहते हैं ।

मनुष्य के समक्ष साध्य है—'अपनी चित्तसन्तति को दोषमुक्त एवं गुणों से युक्त करना ।' यह कार्य सम्यग् बुद्धि के द्वारा ही सम्भव है । सामान्य चित्तप्रवाह को सम्यग् बुद्धि के रूप में प्रवाहित करने के लिए अभ्यास करना होगा । जन्म-मरण की परम्परा में प्रवाहित इस सास्रव चित्तधारा का उच्छेद करना, पूर्वापर अनेक जन्मों में सम्यग् मार्ग के अभ्यास द्वारा ही सम्भव है । अथवा—वर्तमान जन्म में भी अत्यन्त गम्भीर उपायों के द्वारा इस धारा का उच्छेद किया जा सकता है ।

---

१. "पटुत्वहीनेऽपि मतिप्रभावे जडप्रकारेष्वपि चेन्द्रियेषु ।
विनोपदेशात्प्रतिपद्यते यत्प्रसूतमात्रःस्तनपानयत्नम् ॥
आहारयोग्यासु कृतश्रमत्वं तद्दर्शयत्यस्य भवान्तरेषु ।
अभ्याससिद्धिर्हि पटूकरोति शिक्षागणं कर्मसु तेषु तेषु च ॥"—
आर्यशूरकृतजातकमाला में ब्रह्मजातक; श्लोक सं० ११-१२ ।

इसकी सिद्धि के लिए मुख्यतः तीन बातें आवश्यक होती हैं ।

१. दो सत्ताओं (सत्यद्वय) का भेदज्ञानपूर्वक निश्चय करना ।

२. साधना मार्ग के उपाय और प्रज्ञा का आचरण एवं अनुभव करना ।

३. पुनः उनके प्रकर्ष द्वारा फल के रूप में द्विविध कायों की प्राप्ति का रहस्य जानना ।

उपर्युक्त तीनों विषयों पर सङ्क्षेप से यहाँ विचार प्रस्तुत करना आवश्यक प्रतीत होता है ।

सत्यद्वय

ज्ञान के विषयों का दो विभाग होता है, यथा—संवृतिसत्य एवं परमार्थ सत्य[१] । सर्वथा असत् पदार्थ न तो होते हैं और न वे किसी के ज्ञान के विषय ही बनते हैं । इसीलिए ज्ञान के विषयों को 'सत्य' शब्द से कहा जाता है । उपर्युक्त दोनों प्रकार के सत्यों के इसलिए दो विभाग किये जाते हैं; क्योंकि ये दोनों सत्य एक दूसरे के विरोधी हैं । जो ज्ञेय पदार्थ परमार्थ रूप से सत्य होगा, वह संवृति सत्य से भिन्न होगा । संवृतिसत्ता वस्तु की कल्पित सत्ता है, अतः परमार्थ सत्ता उससे युक्त कभी नहीं हो सकती । इसलिए ये दोनों सत्य परस्पर परिहार-स्वभाव माने जाते हैं । इन दो परस्पर विरोधी स्थितियों को एक 'सत्य' शब्द से कहना, यद्यपि उचित प्रतीत नहीं होता; तथापि सम्पूर्ण ज्ञेय पदार्थों को संगृहीत करने के लिए दोनों अवस्था के ज्ञेयों को एक 'सत्य' शब्द द्वारा कहा जाता है । वस्तुतः सत्य एक ही है, वह परमार्थ सत्य है । यदि वह न रहेगा तो द्वितीय सत्य की सत्ता भी नहीं रहेगी । इन दोनों सत्यों से भिन्न

---

१. "सत्य इमे दुवि लोकविदूनां, दिष्ट स्वयं अश्रुणित्व परेषाम् ।
संवृति या च तथा परमार्थो, सत्यु न विद्यति किं च तृतीयु ॥"
—पितापुत्रसमागमसूत्रम् ।

"द्वे सत्ये समुपाश्रित्य बुद्धानां धर्मदेशना ।"—नागार्जुनकृत मूलमाध्यमिक-कारिका २४ : ८ पृ० ४९२ ।

कोई तीसरा सत्य नहीं है । दो की यह संख्या अत्यन्त नियत है । इसलिए तीसरे पक्ष की कोई सम्भावना नहीं है ।

इन दोनों सत्यों के रहस्य को समझने के लिए इनके उस लक्षण की ओर भी ध्यान देना चाहिए, जिससे इन दोनों का स्वभाव अभिन्न ज्ञात होता है । ऊपर दोनों सत्यों को परस्पर परिहारस्वभाव कहा गया है, उससे इस बात का कोई विरोध नहीं है कि दोनों सत्यों का स्वभाव एक है । वस्तुतः यदि इन दोनों का स्वभाव एक न हो तो अनेक दोष होंगे—

१—संवृतिसत्य वस्तुओं की स्वभावसत्ता को निश्चित करता है । परमार्थसत्य उनकी निःस्वभावता को प्रकट करता है । यदि संवृतिसत्य परमार्थसत्य के स्वभाव से भिन्न होगा तो लोगों को उस (वस्तु) की निःस्वभावता का ज्ञान नहीं हो सकेगा । उनको इस रहस्य का भी ज्ञान न हो सकेगा कि वस्तुओं की स्थिति या उनकी तात्त्विकता वस्तुतः उनकी निःस्वभावता में पर्यवसित है ।

२—यदि कथञ्चित् वस्तुओं की निःस्वभावता का ज्ञान हो भी जाए फिर भी यदि परमार्थ सत्य से संवृति सत्य भिन्न है तो संवृतिसत्य के द्वारा वस्तुओं की सत्ता (सस्वभावता) का जो ग्रहण हो रहा है, वह कदापि नष्ट न होगा ।

३—ऐसी दशा में निःस्वभावता के साक्षात्कार के लिए योगियों के द्वारा ध्यान-आदि मार्ग में उत्तरोत्तर अभ्यास करना भी व्यर्थ हो जाएगा; क्योंकि परमार्थसत्य से संवृतिसत्य यदि अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखता है तो स्वभाव या आलम्बन के द्वारा योगी का ज्ञान प्रतिहत होगा, उनमें आसक्त होगा, अतः असक्त, अप्रतिहत एवं निरालम्ब ज्ञान न हो सकेगा । फलतः सर्वज्ञता, सर्वाकारज्ञता एवं मार्गज्ञता की प्राप्ति दुर्लभ हो जाएगी । इस तरह उत्तरोत्तर अभ्यास करना व्यर्थ हो जाएगा ।

४—ऐसी स्थिति में यह भी कहा जाने लगेगा कि बुद्ध की दृष्टि आलम्बनग्राही थी, वस्तुस्वभाव में बद्ध थी और उनके सभी दौष्ठुल्य मलों (सूक्ष्म एवं दुष्प्रहेय कुवासनाओं) का प्रहाण नहीं हुआ था ।

उपर्युक्त दोनों सत्यों के निषेध्य भी भिन्न-भिन्न हैं । निषेध्य भिन्न-भिन्न होने से उनकी अतद्व्यावृत्ति भिन्न-भिन्न होती है । बौद्ध सिद्धान्त में कोई शब्द किसी अर्थ को बोधित करता है तो वह अपने बोध्य अर्थ से भिन्न संसार की समस्त अन्य वस्तुओं का निषेध करता है । वस्तुतः शब्द अतद्व्यावृत्ति द्वारा अर्थ का ज्ञान कराता है । शब्द की व्यावृत्ति यही है कि वह बोध्य अर्थ से भिन्न सबका निषेध करके अर्थमात्र को संकेतित करती है । इस सिद्धान्त के द्वारा उपर्युक्त दोनों सत्यों के निषेध्य भिन्न-भिन्न माने जाते हैं । अतः निषेध्य भिन्न-भिन्न होने से उन दोनों की अतद्व्यावृत्ति भिन्न-भिन्न सिद्ध होती है । इसीलिए यद्यपि दोनों सत्यों का स्वभाव अभिन्न है; फिर भी निषेध्यों का भेद होने के कारण वे दो भिन्न-भिन्न सत्य माने जाते हैं । यदि वे इस प्रकार भिन्न न हों तो निम्नलिखित दोष होंगे—

१—एक के निराकरण से दूसरे का भी निराकरण हो जाएगा । जैसे—जब भ्रान्तिमूलक सांवृतिक क्लेशों एवं कर्मों का निराकरण किया जाएगा, तब उनसे अभिन्न परमार्थभूत सत्य धर्मों का भी निराकरण होने लगेगा ।

२-दूसरा दोष यह होगा कि जगत् के सांवृतिक धर्म जैसे अनेक और असदृश हैं, वैसे ही परमार्थ भी अनेक और असदृश होने लगेंगे । जबकि अनेकत्व, असदृशत्व-आदि धर्म कभी भी परमार्थ सत्य के नहीं हो सकते ।

३—तीसरा दोष यह होगा कि अज्ञानबद्ध सामान्य जन (पृथग्जन) संसार के सांवृतिक रूप का जैसे प्रत्यक्षतः अनुभव करते हैं, वैसे ही अर्थात् अपनी अज्ञानावस्था में ही परमार्थ सत्य का भी प्रत्यक्ष अनुभव करने लगेंगे । ऐसी स्थिति में परमार्थ सत्य का साक्षात्कार पुरुषार्थ नहीं रहेगा ।

४—सबसे बड़ा दोष यह होगा कि जैसे सांवृत धर्म अनेकानेक मलों से युक्त होते हैं, वैसे ही उससे अभिन्न स्वभाव होने के कारण परमार्थ सत्य भी उन मलों से युक्त होने लगेगा[१] ।

---

१. द्र०—आर्य अभिसन्धिनिर्मोचन सूत्र ।

ऊपर जिस प्रकार दोनों सत्यों की व्याख्या प्रस्तुत की गई है, उसका सारांश यह है कि संवृति सत्य और परमार्थ सत्य, दोनों यद्यपि स्वभावतः अभिन्न हैं; तथापि अतद्व्यावृत्ति की दृष्टि से (अतद्व्यावृत्तितः) वे भिन्न-भिन्न हैं । किसी वस्तु के परमार्थ होने के लिए यह आवश्यक है कि उसे ग्रहण करनेवाली बुद्धि युक्ति एवं उपपत्तियों के द्वारा परमार्थ के विवेचन में सक्षम हो और परमार्थ का साक्षात् (सीधे) अनुभव कर सके । ऐसी बुद्धि के द्वारा साक्षात् उपलब्ध अर्थ परमार्थ है । परमार्थग्राही बुद्धि से भिन्न बुद्धि व्यावहारिक बुद्धि है । वह लौकिक सङ्केतों द्वारा लौकिक व्यवहार सम्पन्न करने में समर्थ होती है । ऐसी बुद्धि द्वारा जिस अर्थ की साक्षात् उपलब्धि होती है, वह अर्थ संवृति सत्य है ।

इन द्विविध सत्यों को समझने के लिए उनकी शाब्दिक व्युत्पत्ति भी कुछ सहायक होती है, जिसे थोड़े में लिख देना यहाँ आवश्यक प्रतीत होता है ।

परमार्थ सत्य—'परम' शब्द का अभिप्राय है सत्, उत्तम, श्रेष्ठ, उत्कृष्ट—आदि । 'अर्थ' का तात्पर्य है ज्ञेय; वह ज्ञेय जो परम ज्ञान द्वारा जाना जा सके या जिसकी परम ज्ञान द्वारा परीक्षा की जाए, अथवा उसके द्वारा जिसे उपलब्ध किया जाए । ऐसा अर्थ इसलिए 'परमार्थ' कहा जाता है; क्योंकि वह अर्थों में श्रेष्ठ है, उत्तम है । 'सत्य' का अभिप्राय 'यथार्थ' है । सूक्ष्म विचार करने पर ज्ञात होगा कि जो यथार्थ है, वह अविपरीत तथा नित्य होता है । इस प्रकार जो परमार्थ है, वही सत्य है । यह भी कह सकते हैं कि जो सत्य है, वह परमार्थ है ।

परमार्थ सत्य का जैसा प्रतिभास होता है, वैसे ही उसकी वस्तुसत्ता भी होती है, इसलिए अर्थात् वस्तु एवं आभास में एकात्मता होने से वह 'परमार्थ सत्य' कहलाता है । यह संवृति सत्य के समान नहीं है, जिसके प्रतिभास और वस्तुसत्ता में भेद होता है ।

संवृतिसत्य—'संवृति' का अभिप्राय सत्यग्राहक दृष्टि से है । यह धर्मों के यथार्थ स्वरूप का आवरण करती है । उसकी दृष्टि से सत्य होने के कारण वह 'संवृति सत्य' कहलाता है । अथवा—संवृति का अर्थ मिथ्या है; क्योंकि संवृति के स्थल में वस्तु का जैसा

प्रतिभास होता है, वैसी वस्तुसत्ता नहीं होती । वस्तु की सत्ता एवं प्रतिभास में एकात्मता न होने के कारण संवृति मिथ्या है । यद्यपि वह मिथ्या है; तथापि प्रतिभासित वस्तु सत्य समझी जाती है, अतः उसे 'संवृति सत्य' कहते हैं ।

परमार्थसत्य को समझने के लिए उसका विभाग किया जाता है । इस विभाग से उसका स्वरूप स्पष्ट ज्ञात हो जाता है । परमार्थ सत्य नैरात्म्य है । नैरात्म्य निःस्वभावता को कहते हैं । निःस्वभावता, नैरात्म्य, परमार्थसत्य आदि समानार्थक शब्द हैं । नैरात्म्य द्विविध है, यथा—पुद्गल-नैरात्म्य तथा धर्मनैरात्म्य[१] । अन्य प्रकार से भी परमार्थ सत्य के भेद किये जाते हैं, जैसे—भावशून्यता, अभावशून्यता, स्वभावशून्यता एवं परभावशून्यता-ये चार भेद । अध्यात्मशून्यता-आदि १८ या २० शून्यताओं में भी विभाग किया जाता है । यहाँ नैरात्म्य का संक्षेप में विभाजन किया गया है । इस (नैरात्म्य) के अर्थ का स्पष्टीकरण आगे किया जाएगा ।

शून्यता के अतिरिक्त अन्य सभी धर्म संवृतिसत्य में संगृहीत होते हैं । संवृतिसत्य पञ्चस्कन्ध, द्वादश आयतन एवं अष्टादश धातुएं हैं । सभी सांवृतिक वस्तुओं का संग्रह या तो पञ्चस्कन्धों में या द्वादश आयतनों में या अष्टादश धातुओं में होता है । स्कन्ध से अभिप्राय राशि से है । पञ्चस्कन्ध सजातीय पदार्थों की पाँच राशियाँ हैं । आयतन चित्त, चैतसिकों के उत्पत्तिद्वार हैं, ये १२ होते हैं । धातु आकर (गोत्र) हैं, सभी पदार्थ १८ आकरों में संगृहीत होते हैं[२] ।

स्कन्ध—रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार एवं विज्ञान-ये ५ स्कन्ध हैं । रूपस्कन्ध के ११ प्रकार हैं । ५ आध्यात्मिक रूपी इन्द्रियाँ—

---

१. [नैरात्म्यं गतिमुक्त्यर्थं द्विविधमुक्तं धर्मपुद्गलभेदेन ।
तच्छास्त्रा पुनरिदं तु बहुविधं विभज्य दम्येभ्यः ।
प्रपञ्चसंहिता उक्त्वा पुनः षोडश शून्यताः ।
संक्षिप्य च चतस्रस्ता महायानेऽप्युदीरिताः ॥]—
आचार्यचन्द्रकीर्ति कृत मध्यमकावतार के तिब्बती अनुवाद की संस्कृत छाया, द्र०-षष्ठ चित्तोत्पाद प्रकरण ।

२. "राश्यायद्वारगोत्रार्थाः स्कन्धायतनधातवः ।"—वसुबन्धुकृत अभिधर्मकोश १:२० पृ० ३० ।

चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा एवं काय; ५ बाह्यरूप—रूप, शब्द, गन्ध, रस एवं स्प्रष्टव्य तथा एक अविज्ञप्ति—इन सबका सम्मिलित नाम 'रूपस्कन्ध' है ।

वेदनास्कन्ध में तीन वेदनाएँ हैं । सुख, दुःख एवं उपेक्षा । इन वेदनाओं का एक समुच्चित नाम 'वेदनास्कन्ध' है ।

तृतीय स्कन्ध में सविकल्प तथा निर्विकल्प दो प्रकार की संज्ञाएँ होती हैं । इन दोनों में से प्रत्येक के तीन-तीन भेद होते हैं—अल्प, महत् एवं अप्रमाण । इन सबका एक सम्मिलित नाम 'संज्ञास्कन्ध' है ।

संस्कारस्कन्ध में सम्प्रयुक्त एवं विप्रयुक्त संस्कार होते हैं । वेदना एवं संज्ञा को छोड़कर सभी चैतसिक सम्प्रयुक्त संस्कार हैं । इन चैतसिकों के अतिरिक्त १४ विप्रयुक्त संस्कार होते हैं[१] । इन सब का समुच्चित नाम 'संस्कारस्कन्ध' है ।

पञ्चस्कन्धों में अन्तिम स्कन्ध विज्ञानस्कन्ध है । इसमें चक्षुर्विज्ञान से लेकर मनोविज्ञान तक ६ विज्ञान सम्मिलित होते हैं[२] । इन सब विज्ञानों का समुच्चित नाम 'विज्ञानस्कन्ध' है ।

आयतन—ये १२ होते हैं । इनमें चक्षुरिन्द्रिय, श्रोत्रेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, जिह्वेन्द्रिय, कायेन्द्रिय एवं मन-इन्द्रिय—ये ६ इन्द्रियाँ 'आध्यात्मिक आयतन' कहलाती हैं । रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्पर्श एवं धर्म—ये ६ विषय 'बाह्य आयतन' कहलाते हैं ।

चक्षुरिन्द्रिय और चक्षुरायतन इन दोनों शब्दों का अर्थ समान है । इसी तरह रूपस्कन्ध और 'रूप' शब्द भी एक ही अर्थ का द्योतन करते हैं । किन्तु रूप और रूपायतन शब्द एकार्थक नहीं हैं; क्योंकि रूप से सम्पूर्ण ११ प्रकार के रूपस्कन्ध का ग्रहण होता है तथा 'रूपायतन' शब्द से चक्षु इन्द्रिय के विषय वर्ण (नील, पीत—

---

१. द्र०—अभिधर्मकोश २:३५-३६ ।

२. ६ विज्ञान ये हैं—चक्षुर्विज्ञान, श्रोत्रविज्ञान, घ्राणविज्ञान, जिह्वाविज्ञान, कायविज्ञान और मनोविज्ञान ।

आदि) एवं संस्थान (आकार-ह्रस्व, दीर्घ—आदि) मात्र का ग्रहण होता है ।

शब्द, शब्दायतन एवं श्रोतव्य—ये तीनों शब्द भी समानार्थक हैं । इसी तरह गन्ध, गन्धायतन, घ्रातव्य—आदि भी जानना चाहिए ।

उपर्युक्त ६ आध्यात्मिक (स्वसन्तानान्तर्गत) आयतन एवं ६ बाह्य आयतनों में से पहले ५-५ आयतन रूपी कहलाते हैं । चित्त, मन और विज्ञान इनका एक ही अर्थ है । इसलिए चक्षुर्विज्ञान आदि जितने चित्त हैं, उन सबका मन-आयतन में संग्रह होता है[1] । आकाश, शून्यता आदि समस्त असंस्कृत[2] धर्म धर्मायतन में सङ्गृहीत होते हैं ।

धातु—ये १८ होती हैं । इनमें अपने-अपने विज्ञानों का आश्रय होनेवाली चक्षु, श्रोत्र-आदि ६ इन्द्रियाँ 'इन्द्रियधातु' हैं । इन इन्द्रियों में आश्रित होने वाले ६ विज्ञान 'विज्ञान धातु' हैं तथा इन विज्ञानों के आलम्बन होने वाले रूप, शब्द-आदि ६ विषय 'विषयधातु' हैं । इस प्रकार इन्द्रिय, विज्ञान एवं विषय धातुओं को मिलाने से कुल १८ धातुएँ होती हैं ।

संक्षेपतः समस्त संस्कृत (हेतु-प्रत्ययों से उत्पन्न) धर्म पञ्चस्कन्ध में सङ्गृहीत होते हैं । सस्कृत और असंस्कृत सभी ज्ञेय १२ आयतनों में सङ्गृहीत होते हैं । इसी तरह ये (समस्त ज्ञेय) १८ धातुओं में भी सङ्गृहीत होते हैं । उपर्युक्त दोनों सत्य (परमार्थ और संवृति) में जितने पदार्थ सङ्गृहीत होते हैं, उन सबका समावेश १२ आयतनों एवं १८ धातुओं में हो जाता है । यदि १८ धातुओं का विस्तार से विभाग किया जाए तो उनके ६१ प्रकार हो जाते हैं । इन सबके सम्यग् ज्ञान के लिए इनके स्वभाव, कृत्य, विभाग—आदि का ज्ञान

---

१. द्र०—अभिधर्मकोश १:१६ ।

२. सभी प्रमेय संस्कृत और असंस्कृत धर्मों में विभक्त हो जाते हैं । हेतु-प्रत्ययों से उत्पन्न धर्मों को 'संस्कृत' कहते हैं । ये अनित्य, वस्तु, कृतक आदि होते हैं । संस्कृत धर्मों के तीन विभाग होते हैं—रूप, ज्ञान एवं विप्रयुक्त संस्कार । जो धर्म हेतु-प्रत्ययों से उत्पन्न नहीं हैं, वे 'असंस्कृत धर्म' कहलाते हैं । ये नित्य एवं अवस्तु आदि होते हैं । आकाश एवं निर्वाण इसके उदाहरण हैं ।

अपेक्षित होता है और यह भी अपेक्षित होता है कि इनमें कितने धर्म हेय हैं, कितने उपादेय हैं । किन्तु ग्रन्थविस्तार के भय से यहाँ नहीं लिखा जा रहा है । इन बातों का ज्ञान अन्य ग्रन्थों से कर लेना चाहिए ।

मनुष्य का कर्त्तव्य है कि वह उपर्युक्त स्कन्ध, आयतन आदि ज्ञेय धर्मों का सम्यग् ज्ञान प्राप्त करे और उनके हेय, उपादेय स्थानों को जाने तथा समस्त दुःखों से सर्वथा विमुक्त, आत्यन्तिक सुख के एकमात्र स्थान मोक्ष को प्राप्त करने का प्रयास करे ।

मनुष्य अनादि काल से जन्म-मरण की दुःख-परम्परा में अवश घूम रहा है और नानाविध दुःखों का अनुभव कर रहा है । सतत (निरन्तर) प्रवर्तमान उसके इस दुःखचक्र का कारण उसकी सन्तान में विद्यमान राग आदि क्लेश ही हैं । जब तक इन क्लेशों का समूल उच्छेद नहीं किया जाता तब तक उसकी दुःख-धारा का उन्मूलन असम्भव है । दुःखों से आत्यन्तिक विमुक्ति एवं सुखस्थान मोक्ष की प्राप्ति के लिए अपनी सन्तान में विद्यमान क्लेशों का सम्यक् प्रहाण करना ही एकमात्र उपाय है ।

भगवान् बुद्ध ने उन क्लेशों का प्रहाण करने के लिए ८४००० धर्म स्कन्धों का उपदेश किया है । इनके अनुसार आचरण करने से ·समस्त क्लेशों से मुक्ति सम्भव हो जाती है । इन धर्म स्कन्धों का संक्षेप किया जाए तो ये १२ भागों में विभक्त हो जाते हैं, इन्हें ही 'द्वादशाङ्ग धर्म प्रवचन[१]' कहते हैं । इन १२ भागों का भी यदि और संक्षेप किया जाए तो वे तीन पिटकों में सङ्गृहीत हो जाते हैं ।

त्रिपिटक

पिटक तीन होते हैं—सूत्र पिटक, विनय पिटक एवं अभिधर्म पिटक । इन्हें ही 'त्रिपिटक' कहते हैं । भगवान् बुद्ध के समस्त

---

१. सूत्र, गेय, व्याकरण, गाथा, उदान, निदान, अवदान, इतिवृत्तक, जातक, वैपुल्य, अद्भुतधर्म और उपदेश—ये ग्रन्थों के १२ प्रकार हैं, जिनमें भगवान् द्वारा उपदिष्ट समस्त ८४००० धर्मस्कन्ध संगृहीत हो जाते हैं ।

वचन इन तीन पिटकों में सङ्गृहीत हैं । बुद्धवचनों का पिटकों में विभाजन करते समय संग्रहकारों द्वारा उनकी संख्या तीन ही रखने के बारे में अनेक हेतु हैं, उनमें ९ हेतु मुख्य हैं । इन ९ हेतुओं में से ३ हेतु हेय की दृष्टि से, ३ हेतु शिक्षा की दृष्टि से तथा तीन हेतु ज्ञेय (विषय) की दृष्टि से हैं[१] । इनका संक्षिप्त वर्णन यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है ।

हेय की दृष्टि से तीन हेतु—तीन उपक्लेश हैं, जो चित्त को क्लिष्ट करते हैं तथा मोक्ष मार्ग के प्रतिबन्धक हैं । मोक्ष के अभिलाषी पुद्गलों द्वारा इनका प्रहाण करना अत्यावश्यक है । इनमें से पहला उपक्लेश है 'विचिकित्सा' । यह प्रतीत्यसमुत्पाद, आर्य सत्य आदि—के प्रति संशय करने वाली बुद्धि है । सूत्रपिटक के चिन्तन-मनन से इस विचिकित्सा का प्रहाण होता है, इस प्रकार सूत्रपिटक विचिकित्सा का प्रतिपक्ष (विरोधी) है ।

अत्यधिक भोगविलास में डूबे रहना अथवा मोक्षप्राप्ति या चित्तशुद्धि के लिए अत्यधिक पीड़ादायक व्रतों का आचरण करना—ये दो अन्त (छोर) हैं, जो सर्वथा प्रहेय हैं । इन दोनों अन्तों को छोड़कर तथागत ने मध्यम मार्ग की देशना की है । इन दोनों अन्तों में आबद्ध करनेवाला 'अन्तद्वयानुयोजक' दूसरा उपक्लेश है । विनयपिटक के चिन्तन, मनन से इसका प्रहाण होता है । इस प्रकार विनयपिटक इन दो अन्तों में आबद्ध करनेवाले इस उपक्लेश का प्रतिपक्ष है ।

अपने द्वारा गृहीत मिथ्या दृष्टियों के प्रति 'यही सत्य हैं, अन्य मिथ्या हैं'—इस प्रकार आग्रह करनेवाली बुद्धि 'इदंसत्याभिनिवेश' नामक तीसरा उपक्लेश है । अभिधर्मपिटक के अनुशीलन से इस प्रकार के मिथ्याभिनिवेश का प्रहाण होता है, इस प्रकार अभिधर्मपिटक इस 'इदं सत्याभिनिवेश' नामक उपक्लेश का प्रतिपक्ष है ।

---

१. "पिटकत्रयं द्वयं वा संग्रहतः कारणैर्नवभिरिष्टम् ।
वासनबोधनशमनप्रतिवेधैस्तद्विमोचयति ॥"—
आर्य मैत्रेयनाथकृत महायानसूत्रालङ्कार (धर्मपर्येष्ट्यधिकार ११) कारिका सं० १ ।

सूत्रपिटक स्कन्ध, आयतन, धातु, प्रतीत्यसमुत्पाद[१], चार, आर्यसत्य[२], भूमि[३], पारमिता[४] एवं समाधि आदि स्वलक्षण[५]—सामान्यलक्षण[६] ज्ञेयों का यथार्थ अविपरीत स्वरूप दिखलाता है, इस प्रकार वह इन उपर्युक्त धर्मों के यथार्थ स्वरूप के बारे में किसी प्रकार का सन्देह नहीं रहने देता और पुद्‌गल को इनके स्वरूप के विषय में एक निश्चय पर पहुँचाता है । विचिकित्सा का स्वभाव किसी भी विषय में मनुष्य को एक निश्चय पर न पहुँचने देना है, उसे द्विविधा में रखना है । इस प्रकार सूत्रपिटक विचिकित्सा का साक्षात् विरोधी सिद्ध होता है । इसीलिए कहा गया है—'सूत्रपिटक विचिकित्सा का प्रतिपक्ष है' ।

विनयपिटक उत्तम खाद्य, पेय, वस्त्र, शयन, आसन, अब्रह्मचर्य आदि बाह्य एवं आध्यात्मिक (भीतरी) काम-भोगों के प्रति तीव्र आसक्ति में दोष दिखलाकर मनुष्य को उनमें प्रवृत्त होने से रोकता है । पहले कहा गया है कि भोगविलास में अत्यधिक डूबे रहना—यह एक अन्त (छोर) है, इसे ही शास्त्रों में 'कामेषु कामसुखल्लिकानुयोग' कहा गया है । तथा चित्तशुद्धि के लिए पीड़ादायक व्रतों का आचरण करना—यह दूसरा अन्त (छोर) है, इसे 'आत्मक्लमथानुयोग' कहा गया है ।

---

१. अन्य धर्मों (हेतुओं) की अपेक्षा से उत्पन्न होना 'प्रतीत्यसमुत्पाद' कहलाता है । इसे 'कार्यकारण भाव' कह सकते हैं ।

२. आर्यों की दृष्टि से जो सत्य होते हैं, उन्हें 'आर्यसत्य' कहते है । ये चार हैं, यथा—दुःखसत्य, समुदयसत्य, निरोधसत्य एवं मार्गसत्य ।

३. ज्ञान की विशेष अवस्था को 'भूमि' कहते हैं । प्रमुदिता आदि के भेद से ये १० होती हैं । इनके ज्ञान के लिए आगे 'मार्ग प्रकरण' देखें ।

४. पारमिता पूर्णता को कहते है । ये दान, शील आदि भेद से १० होती हैं ।

५. स्वलक्षण के अनेक अर्थ हैं । अपने (वस्तु के) असाधारण लक्षण को 'स्वलक्षण' कहते हैं । जैसे—उष्णता अग्नि का स्वलक्षण है । अथवा—देश, काल एवं स्वभाव आदि से अमिश्रित भाव (वस्तु) को 'स्वलक्षण' कहते हैं । स्वतन्त्र सत्ता अर्थात् स्वभावतः सत्ता को भी 'स्वलक्षण' कहते हैं, जिसके निषेध से शून्यता की स्थापना की जाती है ।

६. सामान्यलक्षण के अनेक अर्थ होते हैं । वस्तु के साधारण लक्षण को 'सामान्यलक्षण' कहते हैं । अनित्यता और नैरात्म्य आदि वस्तु का साधारण लक्षण होने से 'सामान्यलक्षण' हैं । अथवा—देश, काल एवं स्वभाव आदि से मिश्रित धर्म 'सामान्यलक्षण' कहते हैं । आकाश आदि इसके उदाहरण हैं ।

विनयपिटक कामभोगों के प्रति आसक्ति में दोष दिखलाता है, अतः वह उपर्युक्त दो अन्तों में से 'कामेषु कामसुखल्लिकानुयोग' नामक प्रथम अन्त का साक्षात् विरोधी कहा गया है ।

अपिच—यद्यपि विनयपिटक कामासक्ति के प्रतिपक्ष के रूप में कहा गया है; तथापि जो पुद्‌गल विशुद्ध शील एवं वैराग्य से सम्पन्न हैं, यदि उन्हें विना प्रयत्न (अनायास) लाभ, सत्कार आदि सुख-सामग्री उपलब्ध होती है और वे उनके प्रति होनेवाली आसक्ति को रोकने में समर्थ हैं, तो ऐसे समर्थ पुद्‌गलों के लिए भगवान् बुद्ध ने उत्तम खाद्य, पेय वस्त्र, शयन (गृह), आसन को स्वीकार कर लेने की अनुज्ञा भी दे दी है, इस प्रकार विनयपिटक 'आत्मक्लमथानुयोग' नामक दूसरे अन्त का भी साक्षात् विरोधी सिद्ध होता है । इसीलिए कहा गया है कि 'विनयपिटक दोनों अन्तों (छोरों) में आबद्ध करनेवाले अन्तद्वयानुयोजक उपक्लेश का प्रतिपक्ष है' ।

सारांश यह है कि जिस भिक्षु में अनायासलब्ध उत्तम खाद्य, पेय, वस्त्र एवं शयनासन का उपभोग करने पर भी राग, अहंकार एवं मद—आदि दोष उत्पन्न नहीं होते, वह अनवद्यचरित्र (निष्पाप आचरणवाला) है, ऐसे भिक्षु के लिए उक्त सामग्रियों को ग्रहण कर लेने की भगवान् ने अनुज्ञा दे दी है । किन्तु जो भिक्षु केवल तीन चीवर[१] ही धारण करता है और उन्हें भी कूड़े पर पड़े हुए फटे हुए कपड़ों को जोड़कर (सिलकर) बनाता है (पासुकूलिक); फिर भी यदि उनके प्रति उसमें राग उत्पन्न हो जाता है, तो वह सावद्यचरित्र (सदोष आचरणवाला) है, ऐसे भिक्षु के लिए भगवान् की अनुज्ञा नहीं है ।

इस तरह अनुज्ञा और निषेध प्रधानतः राग आदि आध्यात्मिक (भीतरी) क्लेशों के बढ़ने या न बढ़ने की अपेक्षा से हैं । इनमें बाह्य भौतिक वस्तुओं की प्रधानता नहीं है ।

अभिधर्मपिटक सभी धर्मों के स्वलक्षण का तथा अनित्य, दुःख, अनात्म आदि सामान्यलक्षण का अविपरीत एवं स्पष्ट ज्ञान कराता है और पुद्‌गल को उनमें श्रवण एवं चिन्तन के द्वारा प्रवृत्त करता है । धर्मों के यथार्थ स्वभाव का ज्ञान न होने से मनुष्य मिथ्या दृष्टियों में

---

१. अधोवस्त्र, उत्तरासङ्ग और सङ्घाटी को 'त्रिचीवर' कहते हैं ।

पतित हो जाता है और इस कारण वह अशुभ को शुभ, दुःख को सुख, अनित्य को नित्य एवं अनात्म को सात्मक समझने लगता है तथा मिथ्या दृष्टियों से उत्पन्न दुःशीलों को सम्यक् शील और कुव्रतों को सम्यग् व्रत समझने लगता है । अभिधर्मपिटक धर्मों का यथार्थ (अविपरीत) लक्षण करता है, इसलिए वह उपर्युक्त अनेक प्रकार की मिथ्या दृष्टियों का साक्षात् विरोधी होता है । इसीलिए कहा गया है कि 'अभिधर्मपिटक इदंसत्याभिनिवेश का प्रतिपक्ष है' ।

शिक्षा की दृष्टि से तीन हेतु—भगवान् बुद्ध के समस्त उपदेशों का सार तीन शिक्षाएँ हैं—शीलशिक्षा, समाधिशिक्षा एवं प्रज्ञाशिक्षा । सामान्यतः तीनों प्रकार की शिक्षाओं के लिए सूत्र पिटक, शील एवं समाधि—इन दो शिक्षाओं के लिए विनयपिटक तथा प्रज्ञा शिक्षा के लिए अभिधर्मपिटक कहा गया है ।

दो यान हैं—हीनयान एवं महायान । इन दोनों यानों में तीन पिटक हैं, तीन शिक्षाएँ हैं; किन्तु दोनों यानों में उद्देश्यों का मौलिक भेद होने से उन तीन पिटकों द्वारा कही गई तीन शिक्षाओं में भी भेद हो जाता है ।

हीनयान की दृष्टि से सूत्रपिटक द्वारा प्रातिमोक्षसंवर, आचार-गोचरविशुद्धि, विधिविशुद्धि[१], थोड़े पाप में भी भय देखना आदि शीलशिक्षा, ध्यानसमापत्ति एवं अरूप-समापत्ति आदि समाधिशिक्षा तथा चार आर्य सत्यों को यथार्थ जाननेवाली विपश्यना (विदर्शना) प्रज्ञाशिक्षा कही गयी है ।

महायान की दृष्टि से सूत्रपिटक द्वारा दुश्चिरितमात्र का निरोध आदि शीलशिक्षा; गगनगञ्ज, शूरङ्गम आदि समाधि शिक्षा तथा परमार्थस्थिति (परमार्थ सत्य) को जाननेवाला निर्विकल्पक ज्ञान प्रज्ञाशिक्षा कही गयी है ।

इस प्रकार सूत्रपिटक हीनयान एवं महायान की तीनों शिक्षाओं का स्वरूप प्रकट करता है ।

---

१. प्रातिमोक्ष-संवर-शील की प्राप्ति, स्थिति एवं वृद्धि के लिए विनयसूत्र में उल्लिखित विधि के अनुसार आचरण करना 'विधिविशुद्धि' है ।

विनयपिटक इस बात का अविपरीत ज्ञान कराता है कि कौन विषय हेय (त्याज्य) हैं और कौन उपादेय (ग्राह्य) है तथा किन विषयों में प्रवृत्त होना चाहिए और किन विषयों से निवृत्त होना चाहिए । इस प्रकार यह पिटक साक्षात् रूप से शील को विशुद्ध करता है । शील के पवित्र हो जाने से चित्त में अशान्ति, ताप या पश्चात्ताप (कौकृत्य) आदि के उत्पन्न होने का अवसर नहीं रहता । चित्त में अशान्ति आदि के न रहने से शरीर में भी लघुता, मृदुता, शान्ति (प्रस्रब्धि) आदि अनुभूत होते हैं तथा ऐसे पुद्गल का चित्त प्रीति एवं सुख से भर जाता है । चित्त की इस अवस्था में उसमें एकाग्रता (समाधि) प्रतिष्ठित हो जाती है । इस प्रकार विनयपिटक शीलशिक्षा एवं समाधिशिक्षा का उपदेश करता है ।

अभिधर्मपिटक समस्त धर्मों के लक्षणों (स्वभावों) का सम्यक् विभाजन करता है और उनके यथार्थ स्वरूप का निर्णय करता है । इस कारण अभिधर्मपिटक के श्रवण, मनन एवं चिन्तन से सभी धर्मों (ज्ञेयों) के लक्षणों को अभ्रान्तरूप से जाननेवाली प्रज्ञा का उदय होता है । इस प्रकार अभिधर्मपिटक प्रज्ञाशिक्षा को सम्पन्न करता है ।

ज्ञेय की दृष्टि से तीन हेतु—सूत्रपिटक धर्म एवं उसके अभिधेयों (अर्थों) का सम्यग् व्याख्यान करता है, विनयपिटक धर्म और उसके अभिधेयों को सिद्ध करता है तथा अभिधर्मपिटक धर्म और उसके अभिधेयों के यथार्थ स्वरूप के अवबोध के लिए होनेवाले वाद (वार्तालाप) में मनुष्य की बुद्धि को सक्षम बनाता है ।

अभी कहा गया है कि सूत्रपिटक धर्म और उसके द्वारा अभिधेय अर्थों का सम्यग् व्याख्यान करता है । यहाँ भगवान् बुद्ध के उपदेश में आनेवाले नाम, अक्षर एवं वाक्य 'धर्म' कहे गये हैं तथा उन नाम आदि के द्वारा बोध्य स्कन्ध, आयतन, धातु आदि 'अभिधेय' या 'अर्थ' कहे गये हैं । अथवा—स्कन्ध, आयतन, धातु आदि 'धर्म' हैं तथा समताभिप्राय आदि ४ अभिप्राय[१] और अवतारणाभिसन्धि[२] आदि

---

१. समताभिप्राय, कालान्तराभिप्राय, अर्थान्तराभिप्राय एवं पुद्गलान्तराभिप्राय—ये ४ अभिप्राय हैं । द्र०—महायान-सूत्रालङ्कार श्लोक सं० १८ पृ० ८२ ।

४ अभिसन्धियाँ[१] उनके 'अर्थ' (अभिधेय) हैं । अथवा—स्वर्ग-आदि प्राप्त करानेवाले मार्गरूपी १० कुशल[२] 'धर्म' हैं और मोक्ष (निःश्रेयस) को प्राप्त कराने के मार्ग ३७ बोधिपाक्षिक[३] गुण उनके 'अर्थ' हैं । इस प्रकार सूत्रपिटक धर्म और उनके अर्थों की सम्यग् व्याख्या करता है ।

विनयपिटक हेय और उपादेय तथा प्रवृत्ति और निवृत्ति के योग्य धर्मों को दिखलाने के कारण पुद्गल को विशुद्ध शील से संयुक्त करता है तथा अशुभ भावना आदि का उपदेश करने के कारण पुद्गल के क्लेशों का दमन करता है । जब पुद्गल विशुद्ध शील से संयुक्त हो जाता है और उसके चित्त के मल (क्लेश) क्षीण हो जाते हैं तो पूर्वकथित 'धर्म' और 'अर्थ' उसकी सन्तान में साक्षात् उद्भूत होते हुए प्रतीत होते हैं । इस प्रकार विनयपिटक धर्म और अर्थों को सिद्ध करता है ।

अभिधर्मपिटक समस्त धर्मों का स्वलक्षण सामान्यलक्षण द्वारा सम्यक् विभाजन करके उनके यथार्थ स्वरूप का बोध कराता है और इस प्रकार पुद्गल को उनके यथार्थ स्वरूप के सम्बन्ध में एक निर्णय पर पहुँचाता है । इसीलिए कहा गया है कि अभिधर्मपिटक धर्म और अर्थ सम्बन्धी वार्तालाप में पुद्गल को सक्षम बनाता है ।

इस प्रकार उपर्युक्त ९ हेतुओं के कारण श्रावकयान, प्रत्येक-बुद्धयान और महायान—इन तीनों यानों के अनुभव, उपाय एवं प्रज्ञा से समन्वित समस्त बुद्धवचनों का संग्रह तीन पिटकों में ही किया गया है ।

शिक्षात्रय

भगवान् बुद्ध के समस्त उपदेशों का सार तीन शिक्षाएँ हैं—अधिशील शिक्षा, अधिसमाधि शिक्षा एवं अधिप्रज्ञ शिक्षा । त्रिपिटक के

---

१. अवतारणाभिसन्धि, लक्षणाभिसन्धि, प्रतिपक्षाभिसन्धि एवं परिणामनाभिसन्धि—ये ४ अभिसन्धियाँ हैं । द्र०—महायान-सूत्रालङ्कार श्लोक सं० १६-१८ ।

२. १० अकुशलों से विरति १० कुशल हैं । १० अकुशलों के लिए आगे 'अधिशील शिक्षा' देखें ।

३. द्र०—अभिधर्मकोश ६:६७-६९ ।

सारे तत्त्व इन्हीं तीन शिक्षाओं में साक्षात् (सीधे) या परम्परया समाविष्ट हो जाते हैं ।

अधिशील आदि में 'अधि' उपसर्ग अतिरेक (अधिक) या उत्कृष्ट अर्थ में है । अतः 'अधिशील' शब्द का अर्थ होता है 'विशिष्टशील' या 'उत्कृष्टशील' । यह विशिष्ट शील इसलिए कहलाता है; क्योंकि यह पालन करनेवाले का एवं दूसरों का हित साक्षात् रूप से या परम्परा से भलीभाँति सिद्ध करता है । बौद्धों से भिन्न मतावलम्बियों के शील उस कोटि के नहीं हैं । उनके पञ्चाग्नि–तपना आदि शील साक्षात् या परम्परया न तो पालन करनेवाले का ही हित साधन करते हैं और न दूसरों का ही हित सिद्ध करते हैं ; अपितु इसके विरुद्ध वे उन्हें कष्ट पहुँचाते हैं । अतः भगवान् बुद्ध द्वारा उपदिष्ट शील उत्कृष्ट शील कहलाता है । उनके द्वारा उपदिष्ट समाधि भी चित्त के क्लेशों एवं उसके विकल्पों की साक्षात् विरोधी होती है, अतः उसका फल इस जन्म में सुखमात्र नहीं होता; अपितु अगले जन्मों में भी सुख देना होता है । अन्ततः वह मोक्षसुख को प्राप्त कराने में भी सहायक होती है । इसलिए इसे सामान्य समाधि न कहकर 'अधिसमाधि' कहते हैं । अन्य तैर्थिक आदि मतावलम्बियों की समाधि बाह्य आलम्बनों में चित्त के विक्षेपमात्र को शान्त कर सकती है और ऐहिक सुखमात्र को प्रदान कर सकती है । अधिक से अधिक वह रूपी या अरूपी देवभूमियों में उत्पाद कर सकती है । चित्त के क्लेशों या उसके विकल्पों की तो किसी भी तरह विपक्ष नहीं हो सकती, अतः वह उत्कृष्ट समाधि नहीं कही जा सकती ।

दो आत्मदृष्टियाँ होती हैं—पुद्गलात्मदृष्टि एवं धर्मात्मदृष्टि । दो आवरण होते हैं—क्लेशावरण एवं ज्ञेयावरण । इनमें से क्लेशावरण का पुद्गलात्मदृष्टि से तथा ज्ञेयावरण का धर्मात्मदृष्टि से सम्बन्ध होता है । इन दृष्टियों एवं आवरणों के कारण पुद्गल न तो आसक्तियों से मुक्त हो पाता है और न उसके क्लेश और अज्ञान का ही सर्वथा विनाश हो पाता है । बुद्ध द्वारा उपदिष्ट प्रज्ञा उपर्युक्त दोनों प्रकार की दृष्टियों एवं आवरणों का सर्वथा प्रहाण करने में सक्षम होती है । फलतः इस प्रकार की प्रज्ञा के परिपूर्ण होने पर पुद्गल की समस्त आसक्तियाँ उच्छिन्न हो जाती हैं । उसके सम्पूर्ण क्लेश विनष्ट हो जाते हैं । उसका ज्ञान निरावरण हो जाता है । वह

परमार्थ सत्य (तत्त्व) का साक्षात् द्रष्टा हो जाता है । वह सम्यक् सम्बुद्ध एवं सर्वज्ञ हो जाता है । इस प्रकार की प्रज्ञा सामान्य प्रज्ञा नहीं है, अतः उसे 'अधिप्रज्ञा' कहा जाता है । अन्य मतवालों की प्रज्ञा इस प्रकार की उत्कृष्ट प्रज्ञा नहीं होती । उसके द्वारा वस्तुस्थिति (परमार्थ सत्य) का साक्षात्कार नहीं किया जा सकता, इस कारण वह संसार के मूल का समूल उच्छेद करने में सर्वथा अक्षम होती है । इसलिए वह सामान्य प्रज्ञामात्र है, उसे उत्कृष्ट प्रज्ञा नहीं कहा जा सकता ।

इस प्रकार बुद्ध के द्वारा उपदिष्ट अधिशील शिक्षा, अधिसमाधि और अधिप्रज्ञ शिक्षा विशिष्ट एवं उत्कृष्ट होने के कारण 'त्र्यधिशिक्षा' कहलाती है ।

शिक्षात्रय का स्वरूप

अधिशीलशिक्षा

उपर्युक्त तीनों शिक्षाओं में अधिशील शिक्षा सर्वप्रथम कही गयी है । जैसे पृथ्वी सम्पूर्ण लोक का आधार होती है, उसी तरह यह भी समस्त गुणों का आधार होती है[१] । यह समस्त कुशल धर्मों का मूल है । समाधि एवं प्रज्ञा भावना द्वारा जिन धर्मों का अनुभव होता है, उन सबका सार इस शिक्षा में संगृहीत है । १० अकुशलविरति शील के आधार पर शील के अनेक प्रकार होते हैं; किन्तु संक्षेप से शील तीन प्रकार का होता है—प्राति-मोक्ष शील, बोधिसत्त्व शील एवं गुह्यतन्त्र शील । सभी प्रकार के शीलों का इन्हीं तीनों में समावेश हो जाता है । १० अकुशलों से विरत होने को 'विरतिशील' कहते हैं । यह शील जब प्रतिष्ठित हो जाता है तब पुद्गल अकुशल करने का अवसर उपस्थित होने पर अर्थात् अकुशल करने के क्षण में अपने को उससे बचा लेता है । अतः इसे 'अकुशलविरति शील' कहते हैं ।

---

१. ["शीलं तथोक्तो जगतां गुणानाम् ।"]—
भूराश्रयः सर्वचराचराणाम् ।
आचार्यनागार्जुनकृत सुहल्लेख (सं० छा०) ।

(क) अकुशलविरतिशील

१० अकुशल—ये (१० अकुशल) तीन भागों में विभक्त हैं, यथा—कायिक, वाचिक एवं मानसिक । जो अकुशल कायद्वार से सम्पन्न होते हैं अर्थात् शरीर द्वारा किये जाते हैं, उन्हें कायिक अकुशल कहते हैं । जो अकुशल वाणी के द्वारा किये जाते हैं, उन्हें वाचिक तथा जो मन के द्वारा किये जाते हैं, उन्हें मानसिक अकुशल कहते हैं ।

कायिक अकुशल ३ हैं, जैसे—१. प्राणातिपात (प्राणी की हिंसा), २. अदत्तादान (चोरी) एवं ३. काम मिथ्याचार (काम व्यभिचार) ।

वाचिक अकुशल ४ हैं, यथा— १. मृषावाद (झूठ बोलना), २. पैशुन्य (चुगली करना), ३. पारुष्य (कठोर वचन) तथा ४. सम्भिन्न प्रलाप (व्यर्थ बकवास करना) ।

मानसिक अकुशल भी ३ हैं, यथा— १. अभिध्या, यह दूसरे की सम्पत्ति को अपने वश में करने की इच्छा है । यह विशेष प्रकार का लोभ है । २. व्यापाद, यह दूसरे के अहित की कामना है । यह एक प्रकार का द्वेष है । ३. मिथ्या दृष्टि, यह मोह (अज्ञान) है । यह अनेक प्रकार की होती है । इसका वर्णन यथास्थान किया जाएगा ।

ये अकुशल कर्म कर्मपथ भी होते हैं और नहीं भी होते ।[1] अपायभूमि (नरक-आदि) तक पहुँचानेवाले पथभूत कर्म ही 'कर्मपथ' कहलाते हैं । यदि कोई कर्म कर्मपथ होता है तो उसमें अपायभूमि में प्रतिसन्धि (जन्म) देने की शक्ति मुख्यरूप से रहती है । कोई कर्मपथ हुआ कि नहीं ? यह जानने के लिए उसके अङ्गों पर विचार करना होता है । यदि उसके अङ्ग पूर्ण होते हैं तो वह कर्म 'कर्मपथ' होता है । उपर्युक्त १० अकुशलों में से प्रत्येक के ५ अङ्ग

---

१. "..................................तदौदारिकसंग्रहात् ।
दश कर्मपथा उक्ता यथायोगं शुभाऽशुभाः ॥"—
अभिधर्मकोश ४ : ६६ ।

होते हैं । अब हम यहाँ उन अङ्गों का वर्णन संक्षेप में प्रस्तुत कर रहे हैं ।

प्राणातिपात (हिंसा)—इसके ५ अङ्ग होते हैं :

१—वस्तु—अपने से भिन्न सन्तानवाला प्राणी । अर्थात् हिंसा की पूर्ति के लिए अपने से भिन्न प्राणी का होना आवश्यक है । यह पहला अङ्ग है ।

२—चेतना—यह ज्ञान होना चाहिए कि यह प्राणी है और यह ज्ञान भ्रान्ति से रहित होना चाहिए ।

३—प्रयोग—विष, शस्त्र या अभिचार (मन्त्र) आदि द्वारा स्वयं मारना या दूसरों से मरवाना ।

४—क्लेश—इस हिंसा कर्म की पूर्ति के लिए चित्त में क्लेशों (मलों) का होना आवश्यक है । सामान्य रूप से यहाँ लोभ, द्वेष और मोह ये तीन क्लेश होते हैं; किन्तु उनमें से द्वेष का होना परमावश्यक है ।

५—निष्पत्ति—वध करनेवाले वधक की मृत्यु से पूर्व वध्य (जिसका वध किया जा रहा है) सत्त्व (प्राणी) का मरना आवश्यक है ।

इन ५ अङ्गों के सम्पन्न होने पर ही यह प्राणातिपात कर्म पूर्ण होता है अर्थात् वह कर्मपथ होता है । इनमें से कोई एक अङ्ग भी यदि न होगा तो वह कर्म कर्मपथ न होकर कायदुश्चरितमात्र होगा । इसी प्रकार अन्य अकुशल भी अपने-अपने अङ्गों के पूर्ण होने पर ही कर्मपथ होते हैं; अन्यथा दुश्चरितमात्र होते हैं—इत्यादि जानना चाहिए ।

पाप की गुरुता—प्राणातिपात कर्म तीन उद्देश्य से किया जाता है ।

१—कभी-कभी मांस खाने की तृष्णा से प्राणातिपात किया जाता है । यह लोभ से होता है ।

२—कभी-कभी किसी से वैर निकालने के लिए किया जाता है । यह द्वेष से होता है ।

३—कभी-कभी यह अज्ञान अर्थात् मिथ्या दृष्टियों के कारण भी होता है, जैसे—यज्ञ में किसी पशु का वध करना आदि ।

इन सब प्राणातिपातों में अपने गुरु, माता, पिता, अर्हत्, श्रमण या ब्राह्मण की हत्या गुरुतर पाप है ।

अदत्तादान (चोरी)—इसके ५ अङ्ग हैं :

१—**वस्तु**—दूसरे का धन (द्रव्य) या रत्नत्रय अर्थात् बुद्ध, धर्म एवं संघ के उद्देश्य से विसृष्ट (छोड़ा गया) द्रव्य ।

२—**चेतना**—धूर्तता (ठगी), बलपूर्वक (सीनाजोरी) या चोरी से दूसरे के द्रव्य को लेने की इच्छा ।

३—**प्रयोग**—स्वयं प्रयत्न करके दूसरे के द्रव्य का अपहरण करना या इस कर्म के लिए दूसरे को प्रेरित करना ।

४—**क्लेश**—सामान्य रूप से राग, द्वेष और मोह नामक तीनों विष होते हैं, विशेष रूप से राग (लोभ) आवश्यक है ।

५—**निष्पत्ति**—जिस द्रव्य का अपहरण किया जा रहा है, वह द्रव्य अपने स्थान से च्युत हो (हटे) या न हो, किन्तु अपहरण करनेवाले में किसी तरह यह बुद्धि उत्पन्न हो जाए कि मैंने इसे प्राप्त कर लिया है तो इससे निष्पत्ति नामक यह अङ्ग पूर्ण हो जाता है ।

पाप की गुरुता—इस अदत्तादान के तीन विभाग किये जा सकते हैं, यथा—१. निरपराध पुरुष को शस्त्र आदि द्वारा डरा-धमका कर या किसी को लोभ दिखलाकर उसका द्रव्य ले लेना, २. सेंध मारकर चोरी करना तथा ३. कूटतुला (झूठे बटखरों से तौलना) आदि अवैध उपायों द्वारा दूसरों के द्रव्य को ग्रहण करना ।

इन सभी प्रकार के अदत्तादानों में से बुद्ध-आदि रत्नत्रय के उद्देश्य से दिये गये द्रव्यों का अपहरण करना गुरुतर पाप होता है ।

काममिथ्याचार—इनके ५ अङ्ग होते हैं :

१—वस्तु—सामान्यतः असङ्गमनीय स्त्रियाँ इस काममिथ्याचार की 'वस्तु' नामक अङ्ग होती हैं, जैसे—परस्त्री, सात पीढ़ी के भीतर की स्त्री या शीलवती भिक्षुणी आदि । कुछ विशेष परिस्थितियों में स्वपत्नी भी 'वस्तु' होती है, जैसे—अस्थान (चैत्य, विहार, मठ, मन्दिर आदि) में; अमार्ग (योनि से भिन्न मार्ग) में; या असमय (व्रत, उपवास मासिकधर्म, गर्भावस्था के समय या दिन के समय) में मैथुनधर्म का आचरण करते समय स्वपत्नी भी काममिथ्याचार का 'वस्तु' नामक अङ्ग होती है ।

२—चेतना—मैथुन करने की इच्छा ।

३—प्रयोग—कार्यनिष्पत्ति से पूर्वक्षण तक कार्य का चालू रहना ।

४—क्लेश—सामान्यतः तीनों विष अर्थात् राग, द्वेष एवं मोह : किन्तु इनमें राग सर्वप्रधान है ।

५—निष्पत्ति—दोनों इन्द्रियों के संस्पर्श से उत्पन्न सुख-वेदना की अनुभूति का तृष्णा द्वारा स्वीकरण ।

पाप की गुरुता—इस कामामिथ्याचार के तीन विभाग किये जा सकते हैं ।

१. मातृरक्षिता, भ्रातृरक्षिता आदि स्त्रियाँ 'जातिरक्षिता' कहलाती हैं, इनके साथ काममिथ्याचार ।

२. पतिरक्षिता (परपत्नी) के साथ काममिथ्याचार ।

३. भिक्षुणी आदि धर्मरक्षिता के साथ काममिथ्याचार ।

इन सभी प्रकार के काममिथ्याचारों में से जो माता होते हुए भी अर्हती (अर्हत्त्व प्राप्त भिक्षुणी) है, उसके साथ काममिथ्याचार गुरुतर पाप है ।

मृषावाद (झूठ बोलना)—इसके ५ अङ्ग हैं :

१—वस्तु—अपने से भिन्न पुद्गल । अर्थात् मृषावाद की पूर्णता के लिए अपने से भिन्न पुद्गल आवश्यक है, जिसके साथ झूठ बोला जा सके । यही भिन्न पुद्गल 'वस्तु' है ।

२—चेतना—धोखा देने की इच्छा । जैसे—कोई वस्तु पहले नहीं देखी गयी है, फिर भी किसी के पूछने पर उसे धोखा देने के लिए 'देखी है'—ऐसा कहना । इसे ही 'समुत्थान विकल्प' कहते हैं ।

३—प्रयोग—उस धोखा देनेवाले कर्म का शरीर की चेष्टा द्वारा या वाणी द्वारा प्रकट होना ।

४—क्लेश—राग, द्वेष और मोह में से किसी एक का होना ।

५—निष्पत्ति—इङ्गित, चेष्टित या वाणी के द्वारा परवञ्चक जो कहना चाहता है, उस बात का दूसरे द्वारा जान लिया जाना ।

मृषा होने के लिए यह आवश्यक नहीं कि वाणी (वाग्विज्ञप्ति) द्वारा उसका कथन किया जाए; क्योंकि सङ्केत या शरीरिक चेष्टा (कायविज्ञप्ति) द्वारा भी झूठ के प्रति विश्वास पैदा किया जा सकता है ।

पाप की गुरुता—मृषावाद के ३ विभाग किये जा सकते हैं ।

१. उत्तरमनुष्यधर्म का कथन । अर्थात् वह पुद्गल जो ऋद्धि आदि उत्तम गुणों को प्राप्त नहीं है, फिर भी यह प्रकट करता है कि मुझे वे उत्तम गुण प्राप्त हैं 'उत्तरमनुष्यधर्म का कथन' कहलाता है । उसके लिए यह 'पतनीय धर्म' है ।

२. अपने हित के लिए और दूसरों के अहित के लिए झूठ बोलना । इसे 'महामृषा' कहते हैं ।

३. किसी के हित या अहित के लिए नहीं; अपितु व्यर्थ झूठ बोलना । यह 'अल्पमृषा' कहलाता है ।

इस प्रकार मृषावाद के तीन प्रकार होते हैं । इनमें से भगवान् बुद्ध की निन्दा करना और माता, पिता या गुरु को धोखा देने के लिए मृषावाद करना गुरुतर पाप है ।

पैशुन्य (चुगली)—इसके ५ अङ्ग हैं :

१—वस्तु—कम से कम ऐसे दो व्यक्ति, जिनकी आपस में मित्रता हो ।

२—चेतना—उनमें फूट डालने की इच्छा ।

३—प्रयोग—उनमें फूट डालने का प्रयत्न ।

४—क्लेश—सामान्यतः राग, द्वेष, मोह तीनों; किन्तु प्रधानतः द्वेष ।

५—निष्पत्ति—पैशुन्य के लिए जिन वाक्यों का प्रयोग किया जाए, उनका दूसरों द्वारा अर्थ जान लिया जाना ।

परस्पर प्रतिकूल लोगों को मिलाने का यत्न न करना एवं परस्पर विरुद्ध जन आपस में मिल न जाएँ—इसके लिए यत्न भी इसी के अन्तर्गत आता है ।

पाप की गुरुता—पैशुन्य के ३ विभाग किये जाते हैं :

१—बलात् पैशुन्य—जब परस्पर मित्रता से सम्बद्ध प्रेमी जनों में फूट डालने के लिए साक्षात् (खुलेआम) प्रकट रूप से प्रयत्न किया जाता है, तो ऐसे पैशुन्य को 'बलात् पैशुन्य' कहते हैं ।

२—संसूचन पैशुन्य—इधर की सूचना उधर और उधर की सूचना इधर देकर जब फूट डाली जाती है, तो ऐसे पैशुन्य को 'संसूचन पैशुन्य' कहते हैं ।

३—परोक्ष पैशुन्य—साक्षात् प्रयत्न न करके फूट डालने के लिए प्रकारान्तर से प्रयत्न करना 'परोक्ष पैशुन्य' कहलाता है ।

इन तीनों प्रकार के पैशुन्यों में से जिसके द्वारा गुरु-शिष्य में या सङ्घ में फूट डाली जाती है, वह पैशुन्य गुरुतर पाप है ।

पारुष्य (कठोर वचन)—इसके ५ अङ्ग होते हैं :

१—वस्तु—अपने से भिन्न प्राणी का होना । अर्थात् पारुष्य की पूर्णता के लिए यह आवश्यक है कि दूसरा प्राणी हो, जिसे कठोर वचन कहा जाए ।

२—चेतना—दूसरों को कठोर वचन कहने की इच्छा, इसे ही 'समुत्थान विकल्प' कहते हैं ।

३—प्रयोग—कठोर वचन कहने के लिए प्रयत्न करना ।

४—क्लेश—सामान्यतः राग, द्वेष, मोह तीनों; किन्तु प्रधानतः द्वेष ।

५—निष्पत्ति—विज्ञप्ति के रूप में कठोर वाणी का निकलना ।

पाप की गुरुता—इस पारुष्य के भी ३ विभाग किये जा सकते हैं :

१—साक्षात् पारुष्य—इसके द्वारा दूसरों की साक्षात् भर्त्सना की जाती है ।

२—नैमित्तिक पारुष्य—साक्षात् कटु वचन न कहकर किसी और चीज के बहाने ऐसा व्यङ्ग्य करना, जिससे सुननेवाले को कष्ट पहुँचे ।

३—परम्परया पारुष्य—जिसे कटु वचन कहना है, उसे साक्षात् न कहकर उसके मित्र आदि के सम्मुख कटु वचन कहना ।

सभी प्रकार के कठोर वचनों में माता, पिता या आर्य को कठोर वचन कहना गुरुतर पाप है ।

सम्भिन्नप्रलाप (बकवास करना)—इसके ५ अङ्ग हैं :

१—वस्तु—अपने से भिन्न प्राणी ।

२—चेतना—प्रमाद के कारण बिनां मतलब की बात करने की इच्छा ।

३—प्रयोग—ऐसे कहानी, किस्से, संगीत आदि आरम्भ करना, जिनसे कोई लाभ न हो ।

४—क्लेश—सामान्यतः राग, द्वेष, मोह तीनों; किन्तु प्रधानतः मोह ।

५—निष्पत्ति—विज्ञप्ति के रूप में व्यर्थ शब्द निकलना ।

पाप की गुरुता—इस सम्भिन्नप्रलाप के भी तीन विभाग किये जा सकते हैं :

१—मिथ्या सम्भिन्नप्रलाप—तैर्थिक आदि के जप तथा कथाएँ इसके अन्तर्गत सम्मिलित हैं ।

२—लौकिक सम्भिन्न प्रलाप—इसमें निरर्थक कहानी, किस्से एवं हँसी-मजाक आदि सम्मिलित हैं ।

३—सत्य सम्भिन्नप्रलाप—अनधिकारी को धर्म का कथन करना ।

सभी प्रकार के सम्भिन्न प्रलापों में से एकमात्र धार्मिक अनुष्ठान में संलग्न व्यक्ति के चित्त को विक्षिप्त करनेवाला सम्भिन्नप्रलाप गुरुतर पाप है ।

अभिध्या—इसके ५ अङ्ग हैं :

१—वस्तु—दूसरों की सचल एवं अचल सम्पत्ति ।

२—चेतना—दूसरों के धन एवं सामग्री को हस्तगत करने की इच्छा (आशा) । इसे ही 'प्रणिधि' नामक 'समुत्थान विकल्प' कहते हैं ।

३—प्रयोग—दूसरों की सम्पत्ति (धन) एवं सामग्री का पुनः पुनः ध्यान (चिन्तन) करना ।

४—क्लेश—सामान्यतः राग, द्वेष एवं मोह तीनों; विशेषतः राग (लोभ) ।

५—निष्पत्ति—दूसरों की सम्पत्ति का चिन्तन करते-करते अन्त में ह्री (लज्जा) एवं अपत्रपा (भय) छोड़कर विपरीत (प्रत्यनीक) कर्मों का आचरण करना ।

पाप की गुरुता—इस अभिध्या के तीन विभाग किये जा सकते हैं :

१—आत्मीय अभिध्या—अपने कुल आदि के प्रति आसक्ति ।

२—परकीय अभिध्या—दूसरों की सम्पत्ति के प्रति आसक्ति-आदि ।

३—उभयातिरिक्त अभिध्या—पूर्वकथित आत्मीय एवं परकीय अभिध्या से भिन्न भूमि के नीचे गड़ी हुई निधि की आशा-आदि इसके अन्तर्गत आती हैं ।

सभी प्रकार की अभिध्याओं में से भिक्षु के लाभांश की अभिध्या गुरुतर पाप है ।

व्यापाद—इसके ५ अङ्ग हैं :

१—वस्तु—अपने से भिन्न प्राणी ।

२—चेतना—दूसरे को जान से मारने, पीटने एवं विनाश करने की इच्छा । इसे ही 'समुत्थान विकल्प' कहते हैं ।

३—प्रयोग—किस प्रकार दूसरे का विनाश हो—इसी चिन्तन में सर्वदा लगे रहना ।

४—क्लेश—सामान्यतः राग, द्वेष एवं मोह तीनों; विशेषतः द्वेष ।

५—निष्पत्ति—दूसरों को मारने, पीटने एवं विनाश करने आदि के प्रति गुण दृष्टि रखना और उस कर्म के विरोधी (प्रतिपक्ष) मैत्री, करुणा आदि धर्मों का सेवन न करना ।

पाप की गुरुता—इस व्यापाद के भी तीन विभाग किये जा सकते हैं :

१—द्वैषिक व्यापाद—दूसरों को रणभूमि (युद्ध-क्षेत्र) आदि में मारने या घायल करने के विचार ।

२—ऐर्ष्यिक व्यापाद—किसी के साथ प्रतिस्पर्धा (होड़) होने के कारण उसका अपकार करने की चिन्ता ।

३—औपनाहिक व्यापाद—जिसने पहले अपकार किया है, ऐसे व्यक्ति द्वारा बार-बार क्षमा माँग लेने पर भी उससे बदला लेने के लिए वैरभाव रखना ।

उपर्युक्त सभी प्रकार के व्यापादों में से मातृ-वध, पितृ-वध, अर्हत्-वध, बुद्ध के शरीर से लोहितोत्पाद एवं संघभेद नामक आनन्तर्य कर्म करने के लिए प्रेरित करनेवाली (समुत्थापिका) चेतना (इच्छा) गुरुतर पाप है ।

मिथ्यादृष्टि—इसके भी ५ अङ्ग हैं :

१—वस्तु—कुशल, अकुशल धर्म ।

२—चेतना—'न कोई कुशल कर्म होता है और न अकुशल तथा न तो उन कुशल-अकुशल कर्मों का कोई इष्ट-अनिष्ट फल ही होता है'—इस प्रकार की असत्ता-दृष्टि एवं हेतु-फलविपरीत दृष्टि को उत्पन्न करनेवाली चेतना ।

३—प्रयोग—'कुशल-अकुशल कर्म नहीं होते'—इसके पक्ष में पुनः पुनः सोचना ।

४—क्लेश—सामान्य राग, द्वेष एवं मोह तीनों; प्रधानतः मोह ।

५—निष्पत्ति—कुशल-अकुशल कर्म और उनके इष्ट-अनिष्ट फल के अभाव का निश्चय करके इस मिथ्यादृष्टि की प्रतिपक्ष सम्यग्दृष्टि का सेवन न करना ।

गुरुतर पाप—इस मिथ्यादृष्टि के भी तीन विभाग किये जाते हैं :

१—कर्म-फलापवादिका मिथ्यादृष्टि—न कोई सुकर्म होता है, न कोई कुकर्म तथा न तो उनका कोई इष्ट-अनिष्ट विपाक (फल) ही होता है, इस प्रकार सारे सुख या दुःख बिना हेतु के उत्पन्न (अहेतुसमुत्पन्न) होते हैं—यह दृष्टि कर्म और उनके फल का निषेध करनेवाली मिथ्यादृष्टि है ।

२—सत्यापवादिका मिथ्यादृष्टि—मार्ग सत्य की भावना करने पर भी निरोध सत्य (निर्वाण) का साक्षात्कार नहीं होता—इस प्रकार यह आर्य सत्यों का अपलाप करनेवाली मिथ्यादृष्टि है ।

३—रत्नत्रयापवादिका मिथ्यादृष्टि—बुद्ध नहीं हैं, उनके द्वारा उपदिष्ट कोई धर्म नहीं है तथा सङ्घ भी नहीं है—इस प्रकार तीनों रत्नों का अपवाद करनेवाली यह मिथ्यादृष्टि है ।

उपर्युक्त अभिध्या, व्यापाद आदि सभी मानसिक अकुशलों में से यह मिथ्यादृष्टि ही सबसे गुरुतर अकुशल है ।

इस प्रकार पूर्वोक्त सभी १० अकुशलों से विरत होना 'अकुशल-विरतिशील' कहलाता है ।

(ख) प्रातिमोक्ष शील

जो छुटकारा दिलाता है, उसे 'प्रातिमोक्ष' कहते हैं, यह शील पालन करनेवाले पुद्गलों को सांसारिक दुःखों से छुटकारा दिलाता है, अतः इसे 'प्रातिमोक्ष शील' कहते हैं ।

यह शील किसी भय से रक्षा की इच्छा से उत्पन्न नहीं होता, न तो लौकिक मान-प्रतिष्ठा की इच्छा से उत्पन्न होता है और न पारलौकिक (देवलोक-आदि में) सुख की इच्छा से ही उत्पन्न होता है; अपितु मोक्ष (शान्ति) की तीव्र इच्छा से अर्थात् समस्त संसार के प्रति वैराग्य की इच्छा से समुत्थित (उत्पन्न): होता है । यह आचार्य आदि से उपलब्ध (गृहीत) होता है । इस शील से ऐसी चेतना सम्प्रयुक्त (अन्वित) होती है, जिस चेतना ने पर-अपकार की भावना (इच्छा) का समूल उच्छेद कर दिया है । इसी कारण इसे 'प्रातिमोक्ष शील' कहते हैं ।

इस शील का पालन करनेवाले पुद्‌गल ८ प्रकार के होते हैं, अतः आश्रय (आधार) की दृष्टि से यह शील भी ८ प्रकार का होता है[१] । ८ प्रकार के पुद्‌गल इस प्रकार हैं, यथा—उपवसथ, उपासक, उपासिका, श्रामणेर, श्रामणेरिका, शिक्षमाणा, भिक्षु एवं भिक्षुणी । इस शील को 'संवर' भी कहते हैं, अतः इन अष्टविध पुद्‌गलों का शील 'अष्टजाति प्रातिमोक्षसंवर' कहलाता है ।

उपवसथ के पालनीय (रक्षणीय) धर्म ८ होते हैं[२] । उपासक और उपासिका के पालनीय धर्म ५ होते हैं[३] । श्रामणेर और श्रामणेरिका के पालनीय धर्म उपहृताक्रम कहलाते हैं, वे ३६ होते हैं[४] । पक्ष्य[५] और संवरणीय[६] के दुश्चरित आदि भी होते हैं । शिक्षमाणा के पालनीय धर्म श्रामणेरिका के लिए कथित पालनीय धर्मों के अतिरिक्त १२ और होते हैं, यथा—६ मूलधर्म और ६ अनुलोम धर्म । भिक्षु

---

१. "अष्टधा प्रातिमोक्षाख्यो द्रव्यतस्तु चतुर्विधः ।"—अभिधर्मकोश ४:१४ ।

२. उपवसथ एक ऐसा पुद्‌गल है, जिसने अहोरात्र (२४ घंटे) के लिए प्रातिमोक्षसंवर शील का ग्रहण किया है । इसके पालनीय धर्म ८ होते हैं । यथा—अब्रह्मचर्य, अदत्तादान, प्राणातिपात एवं मृषवाद ये ४ मूल धर्म तथा उच्चशयन-महाशयन, सुरापान, नृत्य-गीत आदि का सेवन और माला-गन्ध आदि का धारण एवं विकाल भोजन ये ४ अङ्गधर्म है । इन ८ धर्मों से अपनी रक्षा करनी होती है ।

३. अपने द्वारा पालनीय प्रातिमोक्षशील को जीवनभर पालन करनेवाला गृहस्थ पुद्‌गल 'उपासक' कहलाता है । स्त्री होने पर 'उपासिका' कहलाती है । ये क्रमशः श्रामणेर और श्रामणेरिका के पूर्व होते हैं । इनके पालनीय धर्म ५ होते हैं, यथा—४ मूल धर्म और मद्यपान से अपनी रक्षा करना ।

४. श्रामणेर और श्रामणेरिका ये प्रव्रजित पुद्‌गल हैं । ये उपसम्पन्न (भिक्षु) होने से पूर्व होते हैं । इनके पालनीय धर्म मुख्यतः ३६ होते हैं, जिन्हें 'उपहृतक्रम' कहते हैं । उपाध्याय एवं आचार्य से आनीत नियमों का अतिक्रमण उपहृतक्रम कहलाता है । इससे बचाव श्रामणेर और श्रामणेरिकाओं का कर्त्तव्य है ।

५. भिक्षु के पालनीय धर्मों के सदृश श्रामणेर द्वारा पालनीय कुछ धर्म 'पक्ष्य' कहलाते है ।

६. कुछ धर्म ऐसे है, जिनके आचरण से श्रामणेर को थोड़ा पाप होता है, वे 'संवरकरणीय' कहलाते है ।

के लिए पालनीय धर्म कुल २५३ होते हैं, यथा—४ पाराजिक[१], १३ संघावशेष[२], ३० नैसर्गिकापत्ति[३], ९० पातयन्तिक[४], ४ प्रतिदेशनीय[५] और ११२ दुष्कृत[६]। भिक्षुणी के लिए पालनीय धर्म कुल ३६४ होते हैं, यथा—८ पाराजिक, २० संघावशेष, ३३ नैसर्गिकापत्ति, १८० पातयन्तिक, ११ प्रतिदेशनीय और ११२ दुष्कृत ।

पूर्वकथित ८ प्रातिमोक्षशीलों में से प्रथम उपवसथ शील केवल अहोरात्र (२४ घंटे) के लिए होता है । अर्थात् केवल २४ घंटे इसका पालन करना होता है, तदुपरान्त यह अपने आप नष्ट हो जाता है । इस उपवसथशील से अतिरिक्त बाकी के ७ शील जीवनभर पालन करने होते हैं । अतः मृत्युपर्यन्त उनका पालन करना चाहिए ।

इस प्रातिमोक्षसंवर को धारण करने में अनेक प्रकार के विघ्न (अन्तराय) होते हैं । इस शील को ग्रहण करने के इच्छुक पुद्गलों को इन बाधक (अन्तराय करनेवाले) धर्मों से रहित होना चाहिए । वे बाधक धर्म निम्नलिखित हैं :

१. मातृवध, पितृवध, अर्हत्वध, तथागत के शरीर से लोहितोत्पाद और संघभेद नामक ५ आनन्तर्य कर्म संवरोत्पत्ति के अन्तराय (बाधक) हैं ।

---

१. अपने प्रतिपक्षभूत विरति आदि धर्मों को हरा देने से प्राणातिपात आदि ४ धर्म 'पाराजिक' कहलाते हैं ।
२. जिनका प्रायश्चित्त संघ पर निर्भर होता है और प्रायश्चित्त करने पर जो पुनः शुद्ध हो जाते हैं; अर्थात् जो पूर्णतः नष्ट नहीं होते, कुछ अवशिष्ट रह जाते हैं, ऐसे धर्म 'संघावशेष' कहलाते हैं ।
३. जो पाप किसी वस्तु आदि के ग्रहण से होते हैं और जिनके प्रायश्चित्त के लिए गृहीत वस्तु का यथाविधि परित्याग करना होता है, वे 'नैसर्गिकापत्ति' कहलाते हैं ।
४. ये भिक्षु के लिए क्षुद्र पाप होते हैं ।
५. छिपाने योग्य पाप न होने पर भी जिनकी देशना और प्रायश्चित्त पृथक्-पृथक् करना होता है, उन्हें 'प्रतिदेशनीय' कहते हैं ।
६. पूर्वकथित पापों से भिन्न छोटे-छोटे दुष्कर्म 'दुष्कृत' कहलाते हैं ।

२. राजा की आज्ञा न मिलना और माता-पिता की आज्ञा न होना-आदि संवरस्थिति के अन्तराय हैं ।

३. अत्यन्त शैशवावस्था अर्थात् वह अवस्था, जिसमें कौआ उड़ाने की भी सामर्थ्य नहीं होती-आदि शीलवृद्धि के अन्तराय हैं ।

४. कपिलकेशत्व, भग्ननासत्व, लघुकर्णत्व-आदि जो शोभा के अन्तराय हैं, इस शील के भी अन्तराय हैं ।

विशेष—यह ज्ञातव्य है कि उच्च कुल या निम्न कुल में जन्म होने से अथवा धनी या गरीब होने से इस शील के ग्रहण करने में कोई बाधा नहीं होती । उपर्युक्त दोषों से रहित समर्थ पुद्गल अपनी बुद्धि की शक्ति के अनुसार इस शील का समादान (ग्रहण) कर सकता है ।

अनुपलब्ध संवर को प्राप्त करने की विधि—यह विधि दो प्रकार की है—पुराकल्प और अद्यकल्प ।

जिस विधि द्वारा बिना अत्यधिक प्रयास के संवर प्राप्त किया जाता है, उसे 'पुराकल्प' कहते हैं ।

जिस विधि द्वारा अत्यअधिक प्रयास से संवर प्राप्त किया जाता है, उसे 'अद्यकल्प' कहते हैं ।

उपलब्ध संवर की रक्षा करने की विधि—यह पाँच प्रकार की होती है :

१. अन्य पुद्गलों की अपेक्षा से रक्षा करना ।
२. विशुद्ध आशय द्वारा रक्षा करना ।
३. प्रतिपक्ष (विरोधी) धर्मों का परिचय (ज्ञान) करके रक्षा करना ।
४. शिक्षा-संशोधन द्वारा रक्षा करना ।
५. सुख एवं मान-प्रतिष्ठा के कारणों के सेवन द्वारा रक्षा करना ।

१. अन्य पुद्गलों की अपेक्षा से रक्षा करना—इसके अनुसार बहुश्रुत पण्डितों के उपदेश सुनकर या चरित्रवान् भिक्षुओं के आहार-विहार आदि आचरण देखकर अपने संवर की रक्षा की जाती है । विशेषतः उपसम्पन्न (दीक्षित) होने के अनन्तर लक्षणयुक्त स्थानीय आचार्य के समीप जाकर उनसे शिक्षा लेनी चाहिए ।

२. विशुद्ध आशय द्वारा रक्षा करना—इसके अनुसार कौन धर्म हेय (त्याज्य) हैं, कौन धर्म उपादेय हैं—इस विषय में उत्साह नामक वीर्य होना चाहिए; किन धर्मों में प्रवृत्त होना चाहिए, किन धर्मों से निवृत्त होना चाहिए—इस विषय में अप्रमाद होना चाहिए; अपनी चित्तसन्तति का विश्लेषण एवं परीक्षण करनेवाली स्मृति और सम्प्रजन्य (जागरूकता) होना चाहिए तथा अपने से बड़े पूज्य गुरुजन आदि की अपेक्षा से ह्री (लज्जा) और अपने कुल, जाति आदि के प्रति गौरव की अपेक्षा से अपत्रपा (लज्जा या भय) होनी चाहिए । इस प्रकार इन वीर्य, अप्रमाद आदि धर्मों से युक्त होकर अपने संवर की रक्षा करनी चाहिए ।

३. प्रतिपक्ष (विरोधी) धर्मों का परिचय (ज्ञान) करके रक्षा करना—इसके अनुसार उन कारणों का ज्ञान (परिचय) पहले ही कर लेना चाहिए, जिनकी वजह से शील (संवर) त्यक्त हो जाता है या विनष्ट हो जाता है अथवा जिनसे शील की प्रतिष्ठा होती है या चित्त की प्रसन्नता का विघात होता है । इस प्रकार शील के त्याग एवं विनाश के हेतुओं का तथा शील की प्रतिष्ठा और चित्त की प्रसन्नता के हेतुओं का परिचय प्राप्त करके अनिष्ट हेतुओं का वर्जन एवं इष्ट हेतुओं का सेवन करते हुए शील की रक्षा करनी चाहिए । अर्थात् विनय के सूत्रों एवं सिद्धान्तों के श्रवण, मनन एवं अभ्यास द्वारा अपने उपलब्ध संवर की रक्षा करनी चाहिए ।

४. शिक्षा-संशोधन द्वारा रक्षा करना—पोषध[1] (उपोसथ), वर्षावास[2] एवं प्रवारणा[3]—इन तीन वस्तुओं के विधान का प्रयत्न करना चाहिए ।

५. सुख एवं मान-प्रतिष्ठा के कारणों के सेवन द्वारा रक्षा करना—इसके अनुसार उन पातकों से विरत होना चाहिए जो वस्त्र, भोज्य-पदार्थ, भाण्ड (बर्तन) या शयनासन आदि की वजह से होते हैं । इस प्रकार वस्त्राश्रित, खाद्याश्रित आदि पातकों से अपने को बचाते हुए प्राप्त संवर की रक्षा करनी चाहिए ।

पाप कर्मों को उत्पन्न करनेवाले या उनकी ओर प्रेरित करनेवाले ४ प्रधान कारण होते हैं, यथा—अज्ञान, अनादर (अश्रद्धा), प्रमाद और क्लेशबाहुल्य । इन्हें ही 'चतुःपतन-आयद्वार' अर्थात् पतन के चार द्वार कहते हैं । शील की रक्षा करने के अभिलाषी पुद्‌गल का यह कर्त्तव्य है कि वह इन चार कारणों का त्याग करे । इन ४ कारणों के जो विरोधी (प्रतिपक्ष) धर्म हैं, जैसे—प्रज्ञा, श्रद्धा आदि, उनका सेवन करे तथा ऊपर जो उपलब्ध संवर की रक्षा के उपाय दिखलाये गये हैं, उन पाँचों का सेवन (अनुष्ठान) करते हुए अपने शील की यत्नपूर्वक रक्षा करे ।

(ग) बोधिसत्त्व संवर और गुह्य तान्त्रिक शील— इस प्रकार यह प्रातिमोक्षसंवर शील हीनयान एवं महायान दोनों यानों का सामान्य शील है । अर्थात् इस शील के प्रति दोनों यानों में समान आदरभाव है । बोधिसत्त्व शील एवं गुह्यतान्त्रिक शील ये दो शील

---

१. पूर्णिमा, अमावस्या अथवा चतुर्दशी इस प्रकार प्रति माह २ बार किया जानेवाला यह एक विशेष प्रकार का भिक्षुकर्म है । इसके लिए भिक्षु 'सीमा' में एकत्रित होकर प्रातिमोक्ष सूत्र का पाठ आदि करते हैं और देशनीय और प्रायश्चित करने योग्य पापों का प्रायश्चित करते हैं ।

२. वर्षा ऋतु में भिक्षु तीन मासपर्यन्त एक स्थान में रहते हैं । इस काल में भिक्षु के अनेक विशेष कर्त्तव्य होते हैं । इस विशेष आचरण को 'वर्षावास' कहते हैं ।

३. वर्षावास की समाप्ति पर एक विशेष विधि की जाती है, उसे 'प्रवारणा' कहते हैं । इसके बाद भिक्षु इधर-उधर चारिका कर सकते हैं ।

महायान के असाधारण शील हैं । अर्थात् ये दो शील महायान की अपनी विशेषता है । इनकी हीनयान में चर्चा नहीं है ।

बोधिसत्त्वसंवर उपलब्ध होने पर १८ मूलपातकों एवं ४६ दुश्चरितों से रक्षा करनी पड़ती है ।

गुह्यतान्त्रिक शील उपलब्ध होने पर १४ मूलपातकों और ८ स्थूल अत्ययों (पापों) से रक्षा करनी होती है तथा पञ्चगोत्र[१] के सामान्य एवं विशेष समय[२] आदि अनेक संवर-पर्यायों से रक्षा करनी होती है । इन बोधिसत्त्व और गुह्यतान्त्रिक संवरों के पालनीय धर्म, उनके भेद, परिचय एवं रक्षा करने की विधि आदि का बहुत विस्तार है, अतः हम यहाँ उनकी चर्चा छोड़ रहे हैं ।

अधिसमाधि शिक्षा

तीन अधिशिक्षाओं में से शीलशिक्षा के निरूपण के अनन्तर अब दूसरी समाधिशिक्षा का निरूपण करते हैं । क्योंकि शीलवान् पुद्गल का चित्त ही समाधि के अनुकूल होता है । समाधि चित्त की एकाग्रता है । चित्त अत्यन्त चञ्चल होता है । वह किसी एक आलम्बन में अधिक देर तक स्थित नहीं रह पाता । अभ्यास द्वारा उसकी एकाग्रता साधी जाती है । जब चित्त किसी कुशल आलम्बन में विक्षेप (चाञ्चल्य) का त्याग कर एकाग्र हो जाता है, तो चित्त की उस एकाग्रता को ही 'समाधि' कहते हैं ।

ध्यान की दो अवस्थाएँ होती हैं— सामन्तक और मौल । सामन्तक ध्यान की वह अवस्था है, जब वह अपने से नीचे की भूमि के क्लेशों का प्रहाण करता है । क्लेशों के प्रहीण हो जाने, पर जब सम्पूर्ण ध्यानाङ्ग प्रादुर्भूत होने लगते हैं, तब वह ध्यान

---

१. तन्त्र के अनुसार देवमण्डलों के ५ गोत्र होते हैं, यथा—वैरोचन, अक्षोभ्य, रत्नसम्भव, अमिताभ और अमोघसिद्धि ।

२. 'समय' एक प्रकार का 'आचार' है । कुछ आचार सामान्य (साधारण) होते हैं, जिनका सभी देवमण्डलों से सम्बन्ध होता है । कुछ आचार विशेष होते हैं, जिनका विशेष देवमण्डल से सम्बन्ध होता है ।

के मौल की अवस्था होती है । मौल की प्राप्ति ही ध्यान की परिपूर्णता है ।

समाधि दो प्रकार की होती है, यथा—लौकिक तथा अलौकिक । लौकिक भी दो प्रकार की होती है, यथा—रूपी (रूपावचर) और अरूपी (अरूपावचर) । भूमियाँ तीन होती हैं, यथा-कामभूमि, रूपभूमि और अरूपभूमि । रूपभूमि में होनेवाले चित्तों को रूपावचर तथा अरूपभूमि में होनेवाले चित्तों को अरूपावचर कहते हैं ।

रूपी ध्यान ४ होते हैं—प्रथम ध्यान, द्वितीय ध्यान, तृतीय ध्यान एवं चतुर्थ ध्यान ।

अरूपी ध्यान भी ४ होते हैं—आकाशानन्त्यायतन, विज्ञानानन्त्यायतन, आकिञ्चन्यायतन एवं नैवसंज्ञानासंज्ञायतन ।

समाधि के सम्यग् अभ्यास से रूपी और अरूपी ध्यानों के मौल की प्राप्ति होती है तथा अन्त में ध्यान के परिपूर्ण होने पर 'ध्यानपारमिता' सिद्ध हो जाती है ।

पहले कहा गया है कि समाधि स्वभावतः दो प्रकार की होती है—लौकिक एवं अलौकिक । लौकिक समाधि वह है, जिसका क्षेत्र लोक से ऊपर नहीं होता । अर्थात् जिसके आलम्बन या फल सांसारिक ही होते हैं । संसार का अभिप्राय कामधातु, रूपधातु एवं अरूपधातु से है । अलौकिक समाधि लोकोत्तर समाधि है । यह मोक्ष की ओर अभिमुख होती है । इसका आलम्बन निःस्वभावता या नैरात्म्य होता है ।

इन दोनों लौकिक और अलौकिक समाधियों को सिद्ध करने के लिए सबसे पहले अपने में शमथ तदनन्तर विपश्यना उत्पन्न करना चाहिए[१] । अन्त में शमथ एवं विपश्यना की अलग-अलग भावना न करके दोनों की एक-साथ भावना करनेवाली 'शमथ-विपश्यनायुगल समाधि' उत्पन्न करनी चाहिए । चित्त की चञ्चलता या चित्त के

---

१. 'शमथेन विपश्यनासुयुक्तः कुरुते क्लेशविनाशमित्यवेत्य ।
शमथः प्रथमं गवेषणीयः स च लोके निरपेक्षयाभिरत्या ॥—
आचार्य शान्तिदेवकृत बोधिचर्यावतार, पृ० १३७ ।

क्लेशों को शमन करनेवाली समाधि 'शमथ' है । धर्मों के अनित्य, नैरात्म्य-आदि स्वभावों को जाननेवाली प्रज्ञा 'विपश्यना' है । पहले शमथ और विपश्यना की पृथक् पृथक् भावना की जाती है । इन दोनों के सिद्ध हो जाने पर दोनों की एक-साथ भावना करनेवाली समाधि उत्पन्न होती है ।

पहले कहा गया है कि अपनी चित्तसन्तति में सर्वप्रथम शमथ उत्पन्न करना चाहिए और इसके बाद विपश्यना उत्पन्न करनी चाहिए । इसका कारण यह है कि श्रावक, प्रत्येकबुद्ध एवं बोधिसत्त्व इन तीनों यानों में जितने भी गुण कहे गये हैं, वे सब मूलशमथ और मूलविपश्यना भावना के फल हैं अथवा उपचार-शमथ और उपचार-विपश्यना भावना के फल हैं । उपचार-भावना वह है, जो मूल भावना के समीप पहुँची हुई होती है । उपचार-भावना की अवस्था में चित्त के साथ वितर्क एवं विचार भी सम्प्रयुक्त होते हैं, अतः वह सवितर्क-सविचार-भावना भी कहलाती है । जब शमथ सिद्ध हो जाता है तब भी सविचार भावना हो सकती है; किन्तु उस समय चित्त के विक्षिप्त होने का भय नहीं रहता; अपितु चित्त अपने आलम्बन में ही दृढ़तया प्रवृत्त होता रहता है । यह स्थिति अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होती है । इस अवस्था में किये गये कुशल या पुण्य कर्म अत्यन्त बलवान् होते हैं तथा महाफल देनेवाले होते हैं ।

शमथ भावना के कुछ विघ्न होते हैं, जो चित्त में विक्षेप पैदा करते हैं और शमथ को सिद्ध नहीं होने देते । शमथ के अभिलाषी पुद्गल को चाहिए कि वह इन विघ्नों को हटाने का प्रयास करे तथा इन विघ्नकारक धर्मों के विरोधी ८ प्रतिपक्ष धर्मों का सेवन (अभ्यास) करे, जिनसे इन विघ्नों का प्रहाण किया जा सके[१] । शमथ भावना में विघ्न करनेवाले धर्म ५ हैं[२]—

---

१. पञ्चदोषप्रहाणाष्टसंस्काऽऽसेवनाऽन्वया । आर्य मैत्रेयनाथकृत मध्यान्तविभाग, पृ० १२९ (मोतीलाल बनारसीदास १९७१) ।

२. "कौसीद्यमववादस्य सम्मोषो लय उद्धवः ।
असंस्कारोऽथ संस्कारः पञ्च दोषा इमे मताः ॥ आर्य मैत्रेयनाथकृत मध्यान्तविभाग, पृ० १३० (मोतीलाल बनारसीदास १९७१) ।

(क) १—**कौसीद्य**—यह एक प्रकार का चित्त का आलस्य है । यह समाधि भावना के प्रति उत्साहहीनता उत्पन्न करता है । इसके कारण चित्त समाधि के प्रति अनुत्सुक या उत्साहहीन हो जाता है । यह कुशल उत्साह का विरोधी धर्म है ।

२—**मुषितस्मृतिता**—समाधि की सिद्धि के लिए आवश्यक है कि समाधि के आलम्बन का हमेशा स्मरण बना रहे । यह धर्म आलम्बन को विस्मृत कर देता है । इसके कारण आलम्बन चित्त से विलुप्त हो जाता है । यह सम्यक् स्मृति का विरोधी धर्म है ।

३—**निमग्नता और औद्धत्य**—निमग्नता का अर्थ आलम्बन में डूब जाना है । यह एक प्रकार का अटकाव है, जो आगे की प्रगति का विरोधी है । समाधि के लिए आवश्यक है कि आलम्बन की सदा स्मृति बनी रहे, साथ ही चित्त उसमें डूबे नहीं; अपितु चित्त में एक प्रकार की जागरूकता सदा बनी रहे, जिससे आलम्बन के गुण-दोषों का विचार किया जा सके और समाधि के पथ पर आगे बढ़ा जा सके । औद्धत्य चित्त की चञ्चलता है । इसके कारण चित्त एक आलम्बन में देर तक स्थिर नहीं रह पाता । ये धर्म जागरूकता के विरोधी हैं ।

४—**संस्कारासेवन**—यह जानते हुए भी कि चित्त निमग्नता और औद्धत्य के वशीभूत हो गया है और यह भी जानते हुए कि इन दोषों को हटाने के लिए इनके प्रतिपक्षभूत (विरोधी) इस धर्म का सेवन करना चाहिए, 'प्रतिपक्ष संस्कार धर्म का सेवन (अभ्यास) न करना'—इस (संस्कारासेवन) का अर्थ है । यह एक प्रकार का प्रमाद है ।

५—**संस्कारसेवन**—निमग्नता और औद्धत्य नामक दोषों के न होने पर भी आलम्बन के मर्म का बोध न होने से अज्ञानवश इनके प्रतिपक्षभूत संस्कार धर्मों का सेवन करते जाना—इसका अर्थ है ।

समाधि के बाधक इन ५ दोषों को हटाए बिना समाधि की पूर्णता असम्भव है । इनको हटाने के लिए इनके विरोधी (प्रतिपक्ष)

धर्मों का सेवन करना आवश्यक है । इनके प्रतिपक्षभूत (विरोधी) संस्कार धर्म ८ हैं[१] ।

इन ८ संस्कार धर्मों में से चार धर्म, उर्पयुक्त ५ दोषों में से प्रथम कौसीद्य नामक दोष के प्रतिपक्ष है । शेष ४ संस्कार धर्म अवशिष्ट ४ दोषों के प्रतिपक्ष हैं । जैसे—श्रद्धा, छन्द, वीर्य एवं प्रश्रब्धि ये ४ संस्कार धर्म प्रथम कौसीद्य नामक दोष के प्रतिपक्ष हैं । स्मृति मुषित–स्मृतितानामक द्वितीय दोष की प्रतिपक्ष है । सम्प्रजन्य निमग्नता और औद्धत्य नामक तीसरे दोष का प्रतिपक्ष है । संस्कारचिन्तन चौथे दोष का प्रतिपक्ष है तथा अधिवासन (उपेक्षा) पाँचवे दोष का प्रतिपक्ष है ।

इस प्रकार इन ८ संस्कारों का सेवन करते हुए शमथ भावना करनी चाहिए ।

ध्यान प्राप्त कर लेना कोई आसान काम नहीं है । इसके लिए मनुष्य को नाना प्रकार के अभ्यास करने पड़ते हैं । ध्यान से पूर्व चित्त नाना प्रकार की अवस्थाओं से गुजरता है । बौद्ध पण्डितों ने इन चित्त की अवस्थाओं का अत्यन्त सूक्ष्म विश्लेषण किया है । उनके अनुसार समाधि से पूर्व चित्त की प्रधान ९ अवस्थाएँ होती हैं । इन अवस्थाओं में पूर्वोक्त ५ दोष भी बाधा डालते रहते हैं तथा उन्हें हटाने के लिए पुद्गल उनके विरोधी पूर्वोक्त ८ संस्कार धर्मों का सेवन भी करता रहता है । इस प्रक्रिया में चित्त में नाना प्रकार के बल एवं मनस्कार उत्पन्न होते हैं और फलस्वरूप अन्त में निर्दोष समाधि की प्राप्ति होती है । बल धर्म वे हैं, जो स्वयं कम्पित नहीं होते, चित्त को भी कम्पित नहीं होने देते तथा विरोधी अकुशल धर्मों का प्रहाण करते हैं । मनस्कार चित्त का आभोग है अर्थात् आलम्बन में चित्त का अवधारण (आवर्जन) है । प्रारम्भ से लेकर समाधिपर्यन्त चित्त की ९ अवस्थाएँ होती हैं । इन अवस्थाओं में इन बल एवं मनस्कार आदि धर्मों का क्या कृत्य होता है तथा समाधि किस प्रकार उत्पन्न होती है—इस पूरी प्रक्रिया का हम संक्षेप

---

१. "आश्रयोऽथाश्रितस्ततस्य निमितं फलमेव च ।
आलम्बनेऽसम्माषो लयौद्धत्यानुबुद्धचना ।
तदपायाभिसंस्कारः शान्तौ प्रशठवाहिता ।। —आर्य मैत्रेयनाथकृत मध्यान्तविभाग,

में वर्णन प्रस्तुत कर रहे हैं । इसके पूर्व हम चित्त की ९ अवस्थाओं ६ बल और ४ मनस्कारों का नामोल्लेख कर देना आवश्यक समझते हैं तदनन्तर समाधि की उत्पत्ति का क्रम कहेंगे ।

(ख) चित्त की ९ अवस्थाएँ[1]

१—**चित्तस्थापन**—यह वह प्रारम्भिक अवस्था है, जिसमें चित्त को अन्य बाह्य आलम्बनों में विक्षिप्त न होने देकर केवल अपने (समाधि के) आलम्बन में ही बाँधकर रखा जाता है ।

२—**चित्तप्रवाहसंस्थापन**—यह वह अवस्था है, जिसमें आलम्बन का पुनः पुनः चिन्तन करने से चित्तधारा आलम्बन में कुछ देर तक स्थिर रहने में समर्थ हो जाती है ।

३—**चित्तप्रतिहरण**—यदि चित्त किसी कारण विक्षिप्त हो जाए तो उस विक्षेप को जानकर इस अवस्था में चित्त को पुनः अपने आलम्बन में ही सीमित किया जाता है ।

४—**चित्तोपस्थापन**—इस अवस्था में चित्त को विस्तृत न होने देकर आलम्बन में ही सीमित किया जाता है ।

५—**चित्तदमन**—इस अवस्था में विकल्पों एवं क्लेशों (मलों) के दुष्परिणामों तथा समाधि के गुणों को जानकर चित्त को क्लेशों एवं विकल्पों से बचाकर समाधि में लगाया जाता है ।

---

१. "निबन्ध्यालम्बने चित्तं तत्प्रवेधं न विक्षिपेत् ।
अवगम्याशु विक्षेपं तस्मिन् प्रतिहरेत्पुनः ॥
प्रत्यात्मं संक्षिपेच्चित्तमुपर्युपरि बुद्धिमान् ।
ततश्च रमयेच्चित्तं समाधौ गुणदर्शनात् ॥
अरतिं शमयेत्तस्मिन् विक्षेपदोषदर्शनात् ।
अभिध्यादौर्मनस्यादीन् व्युत्थितान् शमयेत्तथा ॥
ततश्च साभिसंस्कारां चित्ते स्वरसवाहिताम् ।
लभेतानभिसंस्कारात् तदभ्यासात् पुनर्यतिः ॥"—
महायानसूत्रालङ्कार (अववादानुशासनी विभाग) ११-१४ का०, पृ० ९० ।

६—चित्तशमन—यदि समाधि के प्रति अरति उत्पन्न हो जाए तो इस अवस्था में चित्त को शान्त किया जाता है ।

७—चित्तव्युपशमन—इस अवस्था में चित्त में उत्पन्न सूक्ष्म क्लेशों का भी प्रहाण किया जाता है ।

८—चित्तैकोतीकरण—इस अवस्था में विघ्नों द्वारा बाधा न किये जाने से समाधि, धारा के रूप में प्रवाहित होने लगती है ।

९—समाधान—इस अवस्था में समाधि के लिए कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता । चित्त स्वभावतः समाहित ही रहता है ।

(ग) ६ बल

१—श्रुतिबल—चित्त को आलम्बन में लगाने की विधि का शास्त्र से या गुरुमुख से उपदेश सुनना 'श्रुतिबल' है ।

२—आशयबल—आलम्बन में स्थित चित्त की धारा का भावना द्वारा पुनः पुनः चिन्तन करना 'आशयबल' है ।

३—स्मृतिबल—इसके द्वारा आलम्बन की स्मृति रखी जाती है, जिससे यदि चित्त अन्य आलम्बन में विक्षिप्त भी हो जाए तो उसे पुनः अपने मूल आलम्बन में लगा दिया जाता है ।

४—सम्प्रजन्यबल—यह एक प्रकार की जागरूकता है । यह क्लेशों के दुर्विपाक को जानता है तथा समाधि की अच्छाइयों को भी जानता है । इसलिए चित्त को समाधि में रत करता है ।

५—वीर्यबल—यह एक प्रकार का कुशल उत्साह है । इसके कारण चित्त क्लेशों से कम्पित नहीं होने पाता ।

६—परिचयबल—इसके द्वारा चित्त समाधि से परिचित हो जाता है; फलस्वरूप बिना स्मृति एवं सम्प्रजन्य के चित्त अयत्नतः समाधि में संलग्न रहता है ।

रहता है, उसी प्रकार चित्त में नाना प्रकार के विकल्प एक के बाद एक आते रहते हैं । इस अवस्था में साधक को ऐसा भास होता है, मानों चित्त में विकल्पों की बाढ़ आ गई है । यद्यपि विकल्प उतनी ही मात्रा में पहले भी उत्पन्न होते थे; किन्तु चित्त के अन्तराभिमुख न होने से उनकी अनुभूति नहीं होती थी ।

अब चित्त के अन्तराभिमुख होने से तथा स्मृति एवं सम्प्रजन्य का अभ्यास करने से, उन विकल्पों का परिज्ञान होने लगता है । जिस प्रकार किसी बड़े राजपथ पर अनेकों लोगों के चलते फिरते रहने पर भी सामान्यतः उनकी संख्या का परिज्ञान नहीं हो पाता; किन्तु जब सावधानीपूर्वक उनका निरीक्षण किया जाता है तो उनकी अनेकता और अधिक संख्या का ज्ञान होने लगता है । उसी प्रकार स्मृति एवं सम्प्रजन्य के कारण चित्त के अन्तराभिमुख हो जाने से विकल्पों की अनेकता एवं विविधता का भान होने लगता है; किन्तु यह कोई दोष नहीं है ।

अब आशयबल के द्वारा आलम्बन की पुनः पुनः भावना करने से तथा आलम्बन में स्थापित चित्तधारा का पुनः पुनः चिन्तन करने से, चित्तप्रवाह आलम्बन में कुछ देर तक रुकने में समर्थ हो जाता है । यही चित्त की 'चित्तप्रवाहसंस्थापन' नामक दूसरी अवस्था है । इस अवस्था में कभी कभी थोड़े बहुत विकल्प उत्पन्न होकर चित्त को अशान्त कर देते हैं तथा कभी कभी विकल्प शान्त हो जाते हैं । इस अवस्था में कभी कभी विकल्पों के शान्त हो जाने से साधक पहली बार विकल्पविश्रान्ति का अनुभव करता है ।

चित्त की इन दो अवस्थाओं में निमग्नता और औद्धत्य नामक दोष अधिकतर उत्पन्न होते हैं, जिनकी वजह से कभी-कभी चित्त आलम्बन में डूब जाता है । यह एक प्रकार की निद्रा की सी अवस्था होती है तथा कभी-कभी चित्त चञ्चल हो उठता है और विषयान्तर में गमन करने लगता है । फलतः समाधि की शक्ति कम होने लगती है । ऐसी अवस्था में प्रयत्नपूर्वक आलम्बन में मन को निविष्ट करना पड़ता है । यही ४ मनस्कारों में से प्रथम 'मनोनिवेशप्रवर्तक' नामक मनस्कार की अवस्था है । इस प्रकार प्रयत्न पूर्वक चित्त को आलम्बन की ओर अभिमुख करने पर भी यदि वह

अन्य आलम्बनों में विक्षिप्त हो जाए तो चित्त के इस विक्षेप को तत्काल जानकर 'स्मृति बल' द्वारा मूल आलम्बन में चित्त पुनः स्थापित कर दिया जाता है । यही चित्त की 'चित्तप्रतिहरण' नामक तीसरी अवस्था है ।

यह कहा गया है कि जब-जब चित्त निमग्नता आदि दोषों के कारण आलम्बन के प्रति उत्साहहीन होने लगता है, तब स्मृतिबल के द्वारा उसे आलम्बन की ओर प्रेरित किया जाता है; किन्तु जब स्मृति का वेग अत्यधिक बढ़ जाता है, तब चित्त आलम्बन में अत्यधिक उत्साहवान् हो उठता है और यह भी एक दोष है । सम्यक् समाधि के लिए चित्त की समता आवश्यक है । अर्थात् चित्त न तो उत्साहरहित हो और न अत्यधिक उत्साहवान् । अतः स्मृति का वेग अत्यधिक बढ़ जाने पर जब चित्त के उत्साहाधिक्य को क्रमशः सम किया जाता है, तब वही चित्त की 'चित्तोपस्थापन' नामक चौथी अवस्था होती है ।

समाधि का अभ्यास करते समय चित्त में विकल्प और क्लेश आदि पुनः पुनः इसलिए उत्पन्न होते हैं; क्योंकि पुद्‌गल इनके दुष्परिणामों को और समाधि के गुणों को अच्छी प्रकार नहीं जानता । सम्प्रजन्यबल द्वारा चित्त के विकल्पों के दुष्परिणाम एवं समाधि के गुण जान लिए जाते हैं, इस प्रकार सम्प्रजन्यबल चित्त में उत्पन्न क्लेशों का दमन करता है । फलतः चित्त समाधि में अभिरमण करने लगता है । यही चित्त की 'चित्तदमन' नामक पाँचवीं अवस्था है ।

कभी-कभी चित्त समाधि से असन्तुष्ट होने लगता है । सन्तोष न मिलने से वह विक्षिप्त हो उठता है । सम्प्रजन्यबल चित्त में उत्पन्न इस विक्षेप के कुफल को जानता है, इसलिए वह चित्त में असन्तोष को उत्पन्न होने से रोकता है । यही चित्त की 'चित्तशमन' नामक छठवीं अवस्था है ।

यद्यपि अब तक चित्त में उत्पन्न होने वाले दोषों के दुष्परिणाम को जानकर उनका दमन कर दिया गया है; तथापि ऐसा नहीं है कि वे भविष्य में कभी उत्पन्न न होंगे । इसलिए साधक को सर्वदा

जागरूक रहना पड़ता है । जागरूक रहने से यह लाभ होता है कि जब कभी कामराग, कामस्फुरण, निमग्नता या स्त्यान (चित्त का आलस्य) आदि दोष सूक्ष्मरूप से भी उत्पन्न होते हैं, तो उनका यत्नपूर्वक तत्काल नाश कर दिया जाता है और यही चित्त की 'चित्तव्युपशमन'' नामक सातवीं अवस्था है ।

यद्यपि चित्त की तृतीय अवस्था से लेकर सप्तम अवस्था तक अर्थात् इन ५ चित्त अवस्थाओं में समाधि का अंश अधिक रहता है; फिर भी निमग्नता और औद्धत्य आदि अन्तराय बीच बीच में विघ्न करते रहते हैं । फलतः समाधि बीच बीच में विच्छिन्न हो जाती है । इस स्थिति में 'विच्छिन्नप्रवर्तक मनस्कार' चित्त को पुनः समाधि से युक्त कर देता है । इस प्रकार ये ५ चित्तावस्थाएँ 'विच्छिन्नप्रवर्तक' नामक मनस्कार की कार्यक्षेत्र हैं ।

यदि पुद्गल 'वीर्यबल' से अनुप्राणित होकर स्मृति और सम्प्रजन्य नामक प्रतिपक्ष संस्कारों का पुनः-पुनः चिन्तन करें, तो निमग्नता और औद्धत्य नामक क्लेश (दोष) समाधि में विघ्न नहीं कर पाते । फलतः समाधि धारावाहिक रूप से प्रवृत्त होने लगती है । यही चित्त की 'चित्तैकोतीकरण' नामक आठवीं अवस्था है । इस अवस्था में यदि सावधानी के साथ लगातार प्रयत्न किया जाए, तो निमग्नता एवं औद्धत्य समाधि को विच्छन्न नहीं कर सकेंगे । फलतः समाधि अविच्छिन्न रूप से अधिक समय तक प्रवृत्त होने लगेगी और यही 'अविच्छिन्न प्रवर्तक' नामक मनस्कार की अवस्था है ।

इसके बाद यदि क्रमशः लगातार भावना की जाती है, तो 'परिचयबल' नामक षष्ठ बल के द्वारा आलम्बन अत्यन्त स्फुटरूप से अवभासित होने लगता है । इस स्थिति में स्मृति और सम्प्रजन्य की सहायता के बिना ही चित्त आलम्बन में अयलतः समाहित (एकाग्र) होने लगता है । यही चित्त की 'समाधान' नामक नौवीं अवस्था है । जिस प्रकार किसी ग्रन्थ का अच्छा अभ्यास हो जाने पर उसका पाठ करते समय बीच-बीच में चित्त के इधर-उधर चले जाने पर भी पाठ में कोई बाधा नहीं आती अर्थात् पाठ अपने आप (अनायास) सुचारुरूप से चलता रहता है, उसी प्रकार स्मृति के द्वारा आलम्बन में स्थापित चित्त इस नवम चित्तावस्था में स्मृति की सहायता के बिना

भी अपने-आप आलम्बन में स्थित रहता है । अर्थात् समाधि की धारा बिना प्रयत्न के अविच्छिन्न रूप से बहुत समय तक चलते रहने में समर्थ हो जाती है यही 'अयत्नप्रवर्तक' नामक मनस्कार की अवस्था है ।

जिस अवस्था में चित्त बिना किसी प्रयत्न के स्वभावतः समाधि में संलग्न (युक्त) रहने लगता है, वह नवम चित्तावस्था है और इसे ही 'उपचार शमथ' भी कहते हैं ।

साधक में पहले से ही प्रश्रब्धि का कुछ अंश विद्यमान रहता है । प्रश्रब्धि दौष्ठुल्य का विरोधी धर्म है । दौष्ठुल्य काय और चित्त की गुरुता और अकर्मण्यता है तथा क्लेश धर्मों का बीज है । प्रश्रब्धि उसका विरोधी धर्म है । अर्थात् काय और चित्त की लघुता एवं कर्मण्यता प्रश्रब्धि है । यह अशेष क्लेशावरणों का प्रहाण करती है । यह दो प्रकार की होती है—कायप्रश्रब्धि और चित्तप्रश्रब्धि । कायकर्म में लघुता (हल्कापन) आदि कायप्रश्रब्धि तथा चित्त की लघुता आदि चित्तप्रश्रब्धि हैं । यह (चित्तप्रश्रब्धि) चित्त की लघुता एवं आह्लाद का निमित्त है । इसके योग से चित्त आलम्बन में प्रवृत्त होने में समर्थ होता है । समाधि भावना का अभ्यास जैसै-जैसे बढ़ता है, उसी क्रम से प्रश्रब्धि की शक्ति भी बढ़ती जाती है । इस कारण चित्त के वे दौष्ठुल्य विनष्ट होने लगते हैं, जिनके कारण चित्त कुशल आलम्बन में यथेच्छ स्थित नहीं रह पाता था । फलतः 'चित्तप्रश्रब्धि' उत्पन्न होती है । चित्तप्रश्रब्धि चित्त में आह्लाद (प्रीति) उत्पन्न करती है और दौष्ठुल्य का प्रहाण करती है, जिसकी वजह से काय भी प्रश्रब्ध हो जाता है । अर्थात् चित्तप्रश्रब्धि के कारण कामदौष्ठुल्य विनष्ट होकर स्वाभाविक सुखद (हृदयङ्गम) स्पर्शवाली 'कायप्रश्रब्धि' उत्पन्न होती है । इन प्रश्रब्धियों के कारण काय में प्रीतिरस की अनुभूति तथा चित्त में आह्लादरस की अनुभूति होती है ।

अभ्यास के और आगे बढ़ने पर वह प्रीति एवं आह्लाद भी क्रमशः क्षीण होने लगते हैं और उपेक्षा का भाव जागरित होने लगता है तथा चित्त आलम्बन में दृढ़तापूर्वक स्थित होने लगता है । यह अवस्था 'समाध्युपचार-अचलप्रश्रब्धि' कहलाती है । इस अवस्था के प्राप्त होने के साथ ही प्रथम ध्यान के सामन्तक के अन्तर्गत परिगणित शमथ की सिद्धि हो जाती है ।

इस प्रकार प्रथमध्यान सामन्तक में गिने जानेवाले शमथ की सिद्धि हो जाने पर उसका और आगे अभ्यास करने पर प्रथम ध्यान मौल की प्राप्ति हो जाती है । पहले कहा गया है कि प्रधानतः तीन भूमियाँ होती हैं । इन्हें ही 'त्रिधातु' भी कहते हैं । अवान्तर भेदों के साथ इनकी संख्या ९ हो जाती है, यथा—कामभूमि, प्रथमध्यान भूमि, द्वितीय ध्यान भूमि, तृतीय ध्यान भूमि, चतुर्थ ध्यान भूमि, आकाशान्त्यायतन भूमि, विज्ञानानन्त्यायतन भूमि, आकिञ्चन्यायतन भूमि तथा भवाग्र (नैवसंज्ञानासंज्ञायतन) भूमि । इनमें से नीचे नीचे की भूमि के दोषों को देखकर उनके प्रति वैराग्य हो जाने से तथा ऊपर ऊपर की भूमियों के गुणों को देखने से ऊपर ऊपर की भूमियों के मौल प्राप्त होते हैं ।

ये ध्यान समापत्तियाँ कारण हैं । इनकी भावना करने के फलस्वरूप रूपी एवं अरूपी देवों के रूप में उन उन भूमियों में उत्पाद भी होता है ।

(च) ध्यान-समापत्ति की भावना विधि—यह पहले कहा जा चुका है कि लौकिक ध्यान दो प्रकार के होते हैं—रूपावचर एवं अरूपावचर । रूपावचर ध्यान ४ होते हैं तथा अरूपावचर ध्यान भी ४ होते हैं । इनमें से प्रत्येक ध्यान की दो अवस्था होती है—सामन्तक एवं मौल । अब हम यहाँ उन ध्यानों को प्राप्त करने की विधि का निर्देश करेंगे ।

प्रथमध्यान—प्रथम ध्यान की सामन्तक अवस्था में ६ मनस्कार होते हैं, यथा—लक्षणप्रतिसंवेदी मनस्कार, आधिमोक्षिक मनस्कार, प्राविवेज मनस्कार, रतिसङ्ग्राहक मनस्कार, मीमांसक मनस्कार एवं प्रयोगनिष्ठ मनस्कार[१] ।

---

१. "सप्तभिर्मनस्कारैः प्रथमं ध्यानं समापद्यते; एवं यावन्नैवसंज्ञानासंज्ञायतनं च । सप्त मनस्काराः कतमे ? लक्षणप्रतिसंवेदी मनस्कारः, आधिमोक्षिकः, प्राविवेजः, रतिसंग्राहकः, मीमांसकः, प्रयोगनिष्ठः, प्रयोगनिष्ठाफलश्च मनस्कारः ।"—अभिधर्मसमुच्चय; पृ० ६८-६९ ।

१—लक्षणप्रतिसंवेदी मनस्कार—यह वह अवस्था है, जिसमें साधक श्रुतमयी[1] और चिन्तामयी[2] (मिश्रित) प्रज्ञा द्वारा सामन्तक से नीचे की कामभूमि को दोषयुक्त देखता है तथा ऊपर के प्रथमध्यान के मौल को गुणयुक्त देखता है । इस प्रकार लक्षण-प्रतिसंवेदी मनस्कार वितर्क द्वारा स्थूलतः भी देखता है तथा विचारपूर्वक सूक्ष्मतः भी देखता है । यही देखना इस मनस्कार का कृत्य है ।

२—आधिमोक्षिक मनस्कार—उपर्युक्त लक्षणप्रतिसंवेदी मनस्कार ही अभ्यास के बल से जब भावनामयी[3] प्रज्ञा के रूप में परिणत हो जाता है, तो वही 'आधिमोक्षिक मनस्कार कहलाता है ।

३—प्राविवेज मनस्कार—यहाँ यह ज्ञातव्य है कि पुद्गल की चित्तसन्तति· में नाना प्रकार के स्थूल (उद्भूत) और सूक्ष्म क्लेश (मल) विद्यमान होते हैं । उनमें से ध्यानों के द्वारा केवल स्थूल क्लेशों का ही प्रहाण किया जाता है । सम्पूर्ण सूक्ष्म क्लेशबीजों का प्रहाण तो आर्य मार्गों की भावना द्वारा ही सम्भव है । ये आर्यमार्ग अलौकिक मार्ग हैं । पूर्वोक्त ९ भूमियाँ लौकिक हैं । इनमें से प्रत्येक भूमि के ध्यान द्वारा अपने से नीचे की भूमि के स्थूल क्लेशों का प्रहाण किया जाता है । प्रथम ध्यान के सामन्तक द्वारा अपने से नीचे की कामधातु के स्थूल क्लेश नष्ट किये जाते हैं । कामधातु के स्थूल क्लेश ९ हैं । इन ९ कामक्लेशों को ३ भागों में विभक्त किया जाता हैं—अधिमात्र, मध्य एवं मृदु । इनमें से प्रत्येक विभाग भी तीन भागों में विभक्त है—अधिमात्र, मध्य एवं मृदु । इस तरह ये ९ होते हैं । अधिमात्र के तीन भेद ये हैं—अधिमात्र-अधिमात्र, अधिमात्र-मध्य और अधिमात्र-मृदु । मध्य के तीन भेद ये हैं—मध्य-अधिमात्र, मध्यं-मध्य, मध्य-मृदु । तथा मृदु के तीन भेद ये हैं—मृदु-अधिमात्र, मृदु-मध्य एवं मृदु-मृदु ।

---

१. शास्त्र या गुरु का उपदेश सुनने से उत्पन्न प्रज्ञा 'श्रुतमयीप्रज्ञा' कहलाती है ।

२. प्रधानतः चिन्तन करने से उत्पन्न प्रज्ञा 'चिन्तामयी प्रज्ञा' कहलाती है ।

३. ज्ञात तत्त्वों की पुनः पुनः भावना करने से उत्पन्न प्रज्ञा 'भावनामयी प्रज्ञा' कहलाती है ।

भावना के बल से उपर्युक्त आधिमोक्षिक मनस्कार ही जब तीन अधिमात्र कामक्लेशों का प्रहाण करने में समर्थ हो जाता है, तो उसे ही 'प्राविवेज मनस्कार' कहते हैं ।

४—रतिसङ्ग्राहक मनस्कार—पूर्वोक्त प्राविवेज मनस्कार ही अभ्यास के बल से जब आगे चलकर तीन मध्य कामक्लेशों का प्रहाण करने में समथ हो जाता है, तो उसे ही 'रतिसङ्ग्राहक मनस्कार' कहते हैं ।

५—मीमांसक मनस्कार—उपर्युक्त मनस्कारों द्वारा जब अधिमात्र और मध्य कामक्लेशों का प्रहाण कर दिया जाता है, तब मृदु कामक्लेशों के बारे में विचार करना आवश्यक हो जाता है; क्योंकि ये पूर्ववर्ती क्लेशों की अपेक्षा कुछ अधिक दुर्ज्ञेय होते हैं । अतः अपनी चित्त-सन्तति के विषय में 'यह मृदु कामक्लेशों से क्लिष्ट है कि नहीं ?'—इस प्रकार ऊहापोह करनेवाला मनस्कार 'मीमांसक मनस्कार' है ।

६—प्रयोगनिष्ठ मनस्कार—पूर्वोक्त मीमांसक मनस्कार द्वारा मीमांसा करने पर यह ज्ञात हो जाए कि चित्तसन्तति तीन मृदु कामक्लेशों से क्लिष्ट है, तो उन तीन मृदु क्लेशों का प्रहाण करना आवश्यक हो जाता है । उन तीन मृदु कामक्लेशों का प्रहाण करनेवाला उनका विरोधी मनस्कार 'प्रयोगनिष्ठ मनस्कार' है ।

उपर्युक्त ६ मनस्कारों द्वारा अपना-अपना कृत्य सम्पन्न कर दिये जाने के फलस्वरूप अन्त में सप्तम 'प्रयोगनिष्ठ-फलमनस्कार' नामक प्रथम ध्यान के मौल की सिद्धि होती है ।

उपर्युक्त सभी मनस्कार अपने से नीचे की भूमि को स्थूल एवं दोषयुक्त तथा अपने ऊपर की भूमि को निर्दोष एवं शान्त रूप में देखनेवाले धर्म हैं—यह लौकिक एवं अलौकिक दोनों मार्गों का साधारण अभिसमय है ।

प्रथम ध्यान मौल के ५ अङ्ग होते हैं, यथा—वितर्क, विचार, प्रीति, सुख एवं एकाग्रता । इनमें से वितर्क और विचार—ये दो

प्रतिपक्षाङ्ग[1], प्रीति और सुख—ये दो अनुशंसाङ्ग[2] तथा एकाग्रता आश्रयाङ्ग[3] है ।

इस प्रकार प्रथम ध्यान मौल इन ५ अङ्गों से युक्त होता है । उसमें भी यदि वह वितर्क एवं विचार—दोनों से युक्त होता है तो वह केवल 'मौल' तथा यदि वह वितर्क से युक्त न होकर विचारमात्र से युक्त होता है तो 'विशिष्ट मौल' कहलाता है ।

द्वितीय ध्यान—प्रत्येक ध्यान के सामन्तक में पूर्वोक्त ६ मनस्कार होते हैं । उनके द्वारा नीचे के ध्यान को दोषयुक्त एवं ऊपर के ध्यान को निर्दोष एवं गुणयुक्त देखा जाता है । द्वितीय ध्यान सामन्तक में विद्यमान लक्षण-प्रतिसंवेदी आदि मनस्कारों द्वारा अपने से नीचे के प्रथम ध्यान को दोषयुक्त एवं द्वितीय ध्यान को गुणयुक्त देखने से प्रथम ध्यान के प्रति विरक्ति होती है तथा द्वितीय ध्यान के मौल की प्राप्ति होती है । द्वितीय ध्यान का मौल ४ अङ्गों से युक्त होता है, यथा-अध्यात्मसम्प्रसाद, समाधिज प्रीति, समाधिज सुख एवं समाधि (एकाग्रता) । इसमें से अध्यात्मसम्प्रसाद प्रतिपक्षाङ्ग, समाधिज प्रीति और सुख अनुशंसाङ्ग तथा समाधि आश्रयाङ्ग हैं । अपनी भूमि में होनेवाली स्मृति, सम्प्रजन्य और उपेक्षा को 'अध्यात्मसम्प्रसाद' कहते हैं । इन तीनों को अध्यात्मसम्प्रसाद इसलिए कहते हैं; क्योंकि इनके द्वारा अपनी चित्तसन्तति में विद्यमान विकल्पों का अच्छी तरह प्रहाण कर दिया जाता है ।

तृतीय ध्यान—तृतीय ध्यान सामन्तक के ६ मनस्कारों द्वारा अपने से नीचे के द्वितीय ध्यान को दोषयुक्त तथा तृतीय ध्यान को गुणयुक्त देखने से द्वितीय ध्यान से विरक्ति होती है और तृतीय ध्यान का मौल प्राप्त होता है । तृतीय ध्यान का मौल ५ अङ्गों से युक्त होता है, यथा—स्मृति, सम्प्रज्ञान, उपेक्षा, प्रीतिरहित सुख तथा समाधि

---

१. जो अङ्ग क्लेशों के प्रतिपक्ष होते हैं, उन्हें 'प्रतिपक्षाङ्ग' कहते हैं ।

२. जो अङ्ग पहले प्राप्त नहीं थे और भावना करने से जिन विशिष्ट अङ्गों का लाभ होता है, उन्हें 'अनुशंसाङ्ग' कहते हैं ।

३. पूर्वोक्त प्रतिपक्षाङ्ग और अनुशंसाङ्ग का जो आधार होता है, उसे 'आश्रयाङ्ग' कहते हैं ।

(एकाग्रता) । इनमें से स्मृति, सम्प्रज्ञान, (सम्प्रजन्य) और उपेक्षा—ये तीन प्रतिपक्षाङ्ग, प्रीतिरहित सुख अनुशंसाङ्ग तथा समाधि आश्रयाङ्ग हैं ।

चतुर्थ ध्यान—चतुर्थ ध्यान सामन्तक के ६ मनस्कारों द्वारा अपने से नीचे के तृतीय ध्यान को दोषयुक्त तथा चतुर्थ ध्यान को निर्दोष और गुणयुक्त देखने से तृतीय ध्यान के प्रति विरक्ति होती है और चतुर्थ ध्यान के मौल की प्राप्ति होती है । चतुर्थ ध्यान का मौल ४ अङ्गों से युक्त होता है, यथा—स्मृति-परिशुद्धि, उपेक्षा-परिशुद्धि, उपेक्षा-वेदना एवं समाधि । इनमें परिशुद्ध स्मृति एवं परिशुद्ध उपेक्षा—ये दो प्रतिपक्षाङ्ग, उपेक्षावेदना अनुशंसाङ्ग तथा समाधि आश्रयाङ्ग है । चतुर्थ ध्यान में विद्यमान स्मृति 'परिशुद्धि' इसलिए कहलाती है; क्योंकि यह ध्यान के ८ अक्षपालों से विनिर्मुक्त (रहित) होती है ।

अक्षपाल—ये ध्यान के विरोधी या दोष हैं । इन्हें ध्यान का कण्टक कहा जाता है । ये ८ होते हैं, यथा—वितर्क, विचार, सुख, दुःख, सौमनस्य, दौर्मनस्य, आश्वास एवं प्रश्वास । इनमें से वितर्क एवं विचार प्रथम ध्यान के अक्षपाल (दोष) हैं । इनकी उपमा अग्नि से दी जाती है । इन्द्रिय-विज्ञान की परिवारभूत सुख और दुःख वेदना द्वितीय ध्यान की अक्षपाल हैं । मनोविज्ञान के परिवारभूत सौमनस्य और दौर्मनस्य तृतीय ध्यान के अक्षपाल हैं तथा आश्वास एवं प्रश्वास चतुर्थ ध्यान के अक्षपाल हैं । चतुर्थ ध्यान का मौल इन ८ अक्षपालों से सर्वथा मुक्त होता है ।

चारों ध्यानों के अङ्ग कुल मिलाकर नाम से १८ होते हैं; किन्तु स्वरूप से (द्रव्यतः) ११ ही होते हैं[1] ।

(छ) उपर्युक्त ध्यान-समापत्तियों के फल—पूर्वोक्त ध्यानों के मृदु, मध्य या अधिमात्र मौल की भावना के अनुसार मरने के अनन्तर उन-उन ध्यानभूमियों में देवताओं के रूप में उत्पाद होता

---

१. "पञ्चाद्ये तर्कचारौ च प्रीतिसौख्यसमाधयः ।
प्रीत्यादयः प्रसादश्च द्वितीयेऽङ्गचतुष्टयम् ॥
तृतीये पञ्च तूपेक्षा स्मृतिः प्रज्ञा सुखं स्थितिः ।
चत्वार्यन्तेऽसुखादुःखोपेक्षास्मृतिसमाधयः ॥
द्रव्यतो दश चैकं च, ... ।"—अभि० को० ८ : ७-९ का० ।

है । जैसे–प्रथम ध्यान के मृदु, मध्य या अधिमात्र मौल की भावना करने से भावना के अनुसार प्रथम ध्यान भूमि में ब्रह्मकायिक आदि देवों के रूप में उत्पाद होता है । द्वितीय या तृतीय ध्यान के मृदु, मध्य या अधिमात्र मौल की भावना से उन–उन भूमियो के देवों के रूप में उत्पाद होता है । इसी प्रकार चतुर्थ ध्यान के मृदु, मध्य या अधिमात्र मौल की भावना करने से चतुर्थ ध्यान भूमि के अनभ्रक—आदि देवों के रूप में उत्पाद होता है ।

जिन जिन भूमियों में जो जो आध्यात्मिक रूपधर्म प्रतिभासित होते हैं, वे मृदु, मध्य एवं अधिमात्र भावना के 'विपाक फल'[१] हैं । समापत्ति (ध्यान) चित्त 'निष्यन्द फल'[२] हैं तथा उपभोग की सामग्री 'अधिपति फल'[३] हैं ।

(ज) चार अरूपी समापत्तियाँ—यह ज्ञातव्य है कि अरूपी समापत्तियाँ ४ होती हैं, यथा—आकाशानन्त्यायतन, विज्ञानानन्त्यायतन, आकिञ्चन्यायतन और भवाग्र अर्थात् नैवसंज्ञानासंज्ञायतन ।

(झ) अरूपी समापत्तियों की भावनाविधि—चतुर्थ ध्यान की प्राप्ति के अनन्तर उस (चतुर्थ ध्यान) की अच्युत अवस्था में ही रूपधर्मो में स्पर्श, दर्शन एवं प्रतिभास का निषेध करके 'सभी धर्म आकाश के समान अनन्त हैं'—इस प्रकार भावना की जाती है । इस भावना के परिपूर्ण हो जाने पर आकाशानन्त्यायतन समापत्ति सिद्ध हो जाती है । तदनन्तर 'अकाशानन्त्य के समान विज्ञान भी अनन्त है'—इस प्रकार भावना की जाती है । इस भावना के पूर्ण हो जाने पर विज्ञानानन्त्यायतन समापत्ति सिद्ध होती है । इन दोनों समापत्तियों के सिद्ध हो जाने पर इन दोनों (समापत्तियों) को भी सनिमित्त

---

१. विपाक के रूप में प्राप्त फल को 'विपाक फल' कहते हैं । यह सत्त्व की सन्तान में ही होता है, कुशल या अकुशल न होकर अव्याकृत होता है तथा पूर्वकृत साश्रव कुशल और अकुशल धर्मो से उत्पन्न होता है ।

२. हेतु सदृश फल को 'निष्यन्द फल' कहते हैं । अर्थात् जैसे हेतु होता है, फल भी उसी की जाति का (सजातीय) होता है ।

३. अधिपति हेतुओं का फल 'अधिपतिफल' है । उदाहरणार्थ उपभोग्य वस्तुएँ अधिपतिफल हैं; क्योंकि पूर्वकृत कर्म इनके अधिपति हेतु हैं ।

(निमित्त=आलम्बन से युक्त) देखकर 'कुछ भी ग्राह्य नहीं है'—इस प्रकार की भावना की जाती है । इस भावना के पूर्ण हो जाने पर आकिञ्चन्यायतन समापत्ति सिद्ध हो जाती है । अन्त में उपर्युक्त तीनों समापत्तियों को भी सनिमित्त देखकर 'स्थूल संज्ञा तो नहीं है; किन्तु सूक्ष्म संज्ञा का अभाव भी नहीं है'—इस प्रकार भावना की जाती है । इस भावना के परिपूर्ण हो जाने पर नैवसंज्ञानासंज्ञायतन समापत्ति सिद्ध होती है । इसे ही 'भवाग्र समापत्ति' भी कहते हैं ।

(ञ) अरूपी समापत्तियों के फल—इस अरूपधातु में रूपधर्म (रूपस्कन्ध) सर्वथा नहीं होते, केवल नाम धर्म (वेदना, संज्ञा, संस्कार एवं विज्ञान स्कन्ध) ही होते हैं । इसलिए जिस प्रकार रूपधातु के स्थान (भूमियाँ) पृथक् पृथक् होते हैं, उस प्रकार यहाँ भिन्न भिन्न स्थान नहीं होते; तथापि अपने द्वारा भावित समाधि की शक्ति के अनुसार इस धातु के सत्त्वों (पुद्गलों) में उत्तम-मन्द, दीर्घायु-अल्पायु तथा ऊँच-नीच आदि भेद होते हैं । यहाँ उत्पन्न हो जाने के अनन्तर यदि समाधि की पुनः पुनः भावना की जाती है और समाधि की शक्ति का विस्तार किया जाता है तो स्थिरता, दीर्घायुष्य आदि की दृष्टि से अभ्युदयात्मक विशिष्ट फल भी होते हैं ।

इन ध्यानों की प्राप्ति दुर्लभ है । इनका बड़ा महत्त्व है । इनके सिद्ध हो जाने पर पुद्गल में अनेकानेक विशिष्ट गुणों एवं शक्तियों का प्रादुर्भाव होता है । ये बाह्य तैर्थिक (अन्य मतावलम्बी) एवं आन्तर बौद्ध—दोनों के समानरूप से साध्य हैं । किन्तु ये जिनशासन (बौद्धधर्म) में मनुष्य के अन्तिम लक्ष्य नहीं माने जाते । अन्तिम लक्ष्य तो मार्ग और फल की प्राप्ति है, जिनका आगे यथास्थान वर्णन करेंगे; किन्तु ये (ध्यान-समापत्ति) अन्तिम लक्ष्य की प्राप्ति के साधन हैं । उसके पूर्वगामी धर्म हैं । अतः बौद्धधर्म में प्रविष्ट पुद्गलों को इन धर्मों के अभ्यास एवं प्रयोग की शिक्षा दी जाती है ।

चारों ध्यानों (रूपी ध्यानों) के मौल के अभ्यास से ४ अप्रमाण धर्म तथा ५ अभिज्ञाएँ सिद्ध की जा सकती हैं । मैत्री, करुणा, मुदिता एवं उपेक्षा—ये ४ अप्रमाण धर्म हैं । इन्हें अप्रमाण इसलिए कहते हैं; क्योंकि इनकी कोई सीमा नहीं है । सभी सत्त्व

इनके आलम्बन होते हैं । मैत्री सभी सत्त्वों (प्राणियों) के प्रति मित्रता की भावना है । यह एक प्रकार का अद्वेष है । करुणा दुःखी प्राणियों के दुःखों को सह न सकना है । मुदिता सुखी प्राणियों की सुख-सम्पत्ति देखकर खुश होना है । यह ईर्ष्या का विरोधी धर्म है । उपेक्षा अपने प्रति अपकार करनेवाले सत्त्वों के प्रति भी बदले की भावना न रखकर उपेक्षा करना है ।

अभिज्ञा का अर्थ अभिमुख या विशिष्ट ज्ञान है । ये ज्ञान की विशेष शक्तियाँ हैं । चार ध्यानों के मौल के अभ्यास से साधक में नाना प्रकार की शक्तियाँ उत्पन्न होती हैं । संक्षेप से ये ५ प्रकार की होती हैं—दिव्यचक्षु, दिव्यश्रोत्र, परचित्तज्ञान, पूर्वनिवासानुस्मृति तथा च्युत्युपपत्तिज्ञान । दिव्यचक्षु नामक अभिज्ञा द्वारा अत्यन्त दूरवर्ती एवं अत्यन्त सूक्ष्म रूप भी देखे जा सकते हैं । दिव्यश्रोत्र अभिज्ञा द्वारा अत्यन्त दूरस्थ एवं अत्यन्त मन्द शब्द भी सुने जा सकते हैं । परचित्तज्ञान अभिज्ञा दूसरों के चित्तों को जानने में समर्थ होती है । पूर्वनिवासानुस्मृति अभिज्ञा द्वारा अपने तथा दूसरों के अनन्त पूर्व जन्मों को उनके निवासस्थानों को तथा वस्तुओं को जाना जा सकता है । च्युत्युपपादज्ञान नामक अभिज्ञा पुद्गलों की च्युति एवं उत्पत्ति को देखने में समर्थ होती है ।

ये अप्रमाण एवं अभिज्ञा नामक धर्म सभी गुणों के आधार हैं । ये रूपधातु की अपनी विशेषताएँ हैं । ये अरूप भूमि में उत्पन्न नहीं होते हैं; किन्तु अरूपसमापत्ति की भी अपनी विशेषताएँ हैं । चतुर्थ ध्यान के मौल द्वारा असंज्ञिसमापत्ति प्राप्त की जा सकती है । इस समापत्ति की अवस्था में सभी प्रकार की स्थूल संज्ञाओं का निरोध हो जाता है । भवाग्र के मौल द्वारा निरोधसमापत्ति का लाभ किया जा सकता है । इस समापत्ति की अवस्था में निश्चित काल के लिए चित्त-चैतसिक सन्तति का निरोध किया जा सकता है । अतः तीनों यानों के पथिकों का यह कर्त्तव्य है कि वे पहले उन उन समाधियों को और उनके गुणों को प्राप्त करें तदनन्तर ऊपर की इन विशेषताओं को प्राप्त करने का प्रयास करें ।

अधिप्रज्ञ शिक्षा

शिक्षात्रय में तीसरी शिक्षा प्रज्ञा है, जिसे 'अधिप्रज्ञ शिक्षा' कहते हैं । प्रज्ञा उस विशिष्ट ज्ञान को कहते हैं, जिसके द्वारा कुशल, अकुशल धर्मों का विचार एवं परीक्षा के द्वारा प्रविचय होता है । भावना एवं विविध अभ्यासों द्वारा उस प्रज्ञा में उत्तरोत्तर उत्कर्ष लाया जाता है । परिपूर्ण हो जाने पर वह प्रज्ञापारमिता के रूप में परिणत हो जाती है ।

प्रज्ञा के तीन भेद होते हैं । १—परमार्थपरिच्छेदक प्रज्ञा—इसके द्वारा नैरात्म्य तत्त्व का पहले परोक्ष ज्ञान होता है और जब प्रज्ञा का प्रकर्ष पूर्ण हो जाता है, तो उसके द्वारा उस (नैरात्म्य) का प्रत्यक्ष साक्षात्कार होता है ।

२—सांवृतपरिच्छेदक प्रज्ञा—इसके द्वारा पञ्च विद्यास्थानों[१] का विवेचन किया जाता है ।

३—सत्त्वार्थपरिच्छेदक प्रज्ञा—इसके द्वारा सभी जीवों के ऐहिक और पारलौकिक अर्थों की सिद्धि की जाती है । यह ऐसी प्रज्ञा है, जो जीवों के कल्याणकारक धर्मों को जानती है और उन्हें निष्पापरूप में सम्पन्न करती है ।

उपर्युक्त तीनों प्रज्ञाओं में नैरात्म्य को जाननेवाली परमार्थ-परिच्छेदक प्रज्ञा ही प्रधान है । अतः उसकी पूर्णता के लिए ही विशेषतः यत्न करना चाहिए । नैरात्म्य का सिद्धान्त विभिन्न बौद्ध दार्शनिक सम्प्रदायों में समानरूप से व्याप्त है । उसकी स्थापना के विभिन्न प्रकार हैं, किन्तु वे सब प्रज्ञा के अन्तिम उत्कर्ष तक पहुँचाने के साधनमात्र हैं । उत्कृष्ट प्रज्ञा निःस्वभावता को जाननेवाली प्रज्ञा है । प्रासङ्गिक आचार्यों ने इस तत्त्व को समझाने की भूरिशः चेष्टा

---

१. शब्दविद्या, हेतु (प्रमाण)-विद्या, आध्यात्मिकविद्या, चिकित्साविद्या और शिल्पविद्या—ये ५ विद्यास्थान हैं । इन्हें 'महाविद्यास्थान' भी कहते हैं । इनके अङ्गभूत 'अल्पविद्यास्थान' भी ५ होते हैं, यथा—काव्य, छन्द, अभिधान, नाटक तथा ज्योतिष । कुल मिलाकर ये १० विद्यास्थान होते हैं ।

की है । इसलिए हम यहाँ प्रासङ्गिक सिद्धान्त को आधार मानकर नैरात्म्य के स्वरूप का प्रतिपादन करेंगे ।

पहले कहा गया है कि नैरात्म्य का सिद्धान्त बौद्धों का सर्वमान्य सिद्धान्त है । आत्मदृष्टि सभी विपत्तियों का मूल है । वस्तुओं के स्वाभाविक अस्तित्व का बोध अविद्या है । यही आत्मदृष्टि है । इस आत्मदृष्टि के कारण जीव संसार में अनवरत परिभ्रमण करता रहता है । इसी आत्मदृष्टि से संसार की सारी विपत्तियाँ उत्पन्न होती हैं । इसीलिए इसे संसार का मूल कहा गया है । अर्हत् की अवस्था में इस आत्मदृष्टि का विलोप हो जाता है; फिर भी आत्मदृष्टि की वासनाएँ अभी अवशिष्ट रह जाती हैं । इन वासनाओं के कारण सभी धर्मों का साक्षात्कार नहीं हो पाता; फलतः पुद्गल सर्वज्ञ नहीं हो पाता और वह अनेक जन्मों तक निर्वाण में डूबा रहता है । वह समस्त जीवों का निरवशेष कल्याण नहीं कर पाता और स्वयं उच्चकोटि का फल (बुद्धत्व) प्राप्त नहीं कर पाता । यही सब शम की विपत्तियाँ कही जाती हैं । इनका मूल भी वही आत्मदृष्टि की वासना है । इसे ही ज्ञेयावरण कहते हैं । इस प्रकार सांसारिक (भवसम्बन्धी) विपत्ति का मूल 'अविद्या' का और निर्वाण (शम)–सम्बन्धी विपत्ति का मूल 'वासना' का उन्मूलन नैरात्म्य–ज्ञान द्वारा ही सम्भव है । इस (नैरात्म्य–ज्ञान) के अतिरिक्त अन्य कोई इनके उन्मूलन में समर्थ नहीं है । इसलिए यह आवश्यक है कि उत्कृष्ट कोटि की विपश्यना का अभ्यास किया जाए, जिससे नैरात्म्य का यथार्थ ज्ञान होता है[१] ।

नैरात्म्य दो प्रकार का है—पुद्गलनैरात्म्य और धर्मनैरात्म्य । पुद्गलनैरात्म्य का अभिप्राय है—पुदगलनिःस्वभावता; अर्थात् जीवात्मा की निःस्वभावता । धर्मनैरात्म्य का अभिप्राय है—पुद्गल से अतिरिक्त धर्मों की निःस्वभावता; अर्थात् बाह्य पदार्थों की निःस्वभावता । यदि पहले पुद्गलनैरात्म्य का निश्चय कर लिया जाए तो धर्मनैरात्म्य का निश्चय करना सरल हो जाता है ।

---

१. सत्कायदृष्टिप्रभवानशेषान् क्लेशांश्च दोषाश्च धिया विपश्यन् ।
आत्मानमस्या विषयं च ज्ञात्वा योगी करोत्यात्मनिषेधमेव ॥
(चन्द्रकीर्ति, मध्यमकावतार, षष्ठ परिच्छेद)

(क) पुद्गल नैरात्म्य—पुद्गलनैरात्म्य के सम्यग् ज्ञान के लिए अनेकानेक युक्तियाँ होती हैं । इन युक्तियों में से एकानेकवियुक्तत्व अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । एकानेकवियुक्तत्व युक्ति का अभिप्राय है—आत्मा (अहम्) स्वभावतः स्कन्धों से न अभिन्न (एक) है और न तो भिन्न ही है । स्कन्धों से स्वभावतः एक (अभिन्न) न होना और अनेक (भिन्न) न होना (वियुक्तत्व) 'हेतु' है । इस हेतु के द्वारा आत्मा की निःस्वभावता (साध्य) सिद्ध की जाती है[1] । 'इस हेतु का मर्म क्या है'—यह जानना अत्यावश्यक है, बिना मर्म जाने आत्मा की निःस्वभावता का सम्यग् ज्ञान नही हो सकता । इस हेतु के ४ मर्मस्थान हैं, यथा—१. निषेध्यविनिश्चय मर्म, २. व्याप्तिविनिश्चय मर्म, ३. एकत्ववियुक्तविनिश्चय मर्म तथा ४. अनेकत्ववियुक्तविनिश्चय मर्म । अब हम यहाँ इन चारों मर्मों का संक्षेप से वर्णन प्रस्तुत कर रहे हैं ।

१—निषेध्यविनिश्चय—उपर्युक्त हेतु का निषेध्य आत्मा है । आत्मा का निषेध करने के लिए सर्वप्रथम आत्मा और आत्मदृष्टि का स्वरूप जानना परम आवश्यक है । आत्मदृष्टि जिस प्रकार आत्मा का ग्रहण करती है, इस प्रक्रिया का बिना ज्ञान प्राप्त किये आत्मा का निषेध करना असम्भव है[2] । निषेध्य स्थूल और सूक्ष्म दो प्रकार के होते हैं । यदि स्थूल निषेध्य का ही निषेध किया जाएगा तो सूक्ष्म स्वभावसत्ता अनिषिद्ध ही रह जाएगी । सूक्ष्म निषेध्य के अवशिष्ट रह जाने से वह आत्मदृष्टि बाधित नहीं हो सकेगी, जिस आत्मदृष्टि के द्वारा स्वभावसत्ता का ग्रहण होता है; फलतः पुद्गल 'शाश्वत' नामक अन्त (छोर) में पतित हो जाएगा । दूसरी ओर इसका भी ध्यान रखना होगा कि चक्षु-आदि षड् विज्ञानों के द्वारा जो-जो विषय ज्ञात होते हैं, यदि उन सबको निषेध्य समझकर उनका भी निषेध कर दिया जाएगा तो लोकव्यवहार का ही उच्छेद हो जाएगा । इस प्रकार

---

१. "निःस्वभावा अमी भावास्तत्त्वतः स्वपरोदिताः ।
एकानेकस्वभावेन वियोगात्प्रतिबिम्बवत् ॥" —आचार्य शान्तरक्षितकृत मध्यमकालङ्कार ।

२. "कल्पितं भावमस्पृष्ट्वा तदभावो न गृह्यते ॥"—आचार्य शान्तिदेवविरचित बोधिचर्यावतार, पृ० २६६ ।

निषेध्य का अतिप्रसङ्ग हो जाने से पुद्गल 'उच्छेद' नामक अन्त (छोर) में पतित हो जाएगा ।

उपर्युक्त दोनों अन्तों से साधक को बचना चाहिए । इसके लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि स्वभावसत्ता को ग्रहण करनेवाली दृष्टि (आत्मदृष्टि) की सूक्ष्म परीक्षा की जाए । आत्मदृष्टि दो प्रकार की होती है—परिकल्पित आत्मदृष्टि और सहज आत्मदृष्टि । आत्मवादी सिद्धान्तों के वश से आत्मा का ग्रहण 'परिकल्पित आत्मदृष्टि' है । यह आत्मदृष्टि उन सिद्धान्तों को जाननेवाले कुछ पुद्गलों तक ही सीमित है, समस्त जीवों में व्याप्त नहीं है । आत्मवादी सिद्धान्तों के बिना स्वाभाविक रूप से 'अहम्' की स्वभावसत्ता का ग्रहण 'सहज आत्मदृष्टि' है । यह आत्मदृष्टि समस्त जीवों (कीट, पतङ्ग, तक) में व्याप्त है । इस आत्मदृष्टि की सूक्ष्म परीक्षा करने पर ज्ञात होता है कि वह 'अहम्' की स्वतन्त्र सत्ता का ग्रहण करती है । इसमें पञ्चस्कन्धों से अनपेक्ष स्वतन्त्र आत्मा का प्रतिभास होता है । वस्तुतः यह एक आरोपात्मिका बुद्धि है । पाँच स्कन्ध इसके आश्रय हैं । उन पाँच स्कन्धों में ही 'अहम्' की स्वतन्त्र सत्ता का आरोप किया जाता है । इस मर्म को अभ्रान्तरूप से समझना ही 'निषेध्यविनिश्चय' है ।

२—व्याप्तिविनिश्चय—ऊपर कहा गया है कि एकानेक-वियुक्तत्व पुद्गलनैरात्म्य का हेतु है । इस हेतु की अपने साध्य के साथ व्याप्ति को भलीभाँति समझना ही 'व्याप्ति विनिश्चय' है । यदि अहन्ता की सत्ता स्वाभाविक (स्वभावतः या स्वतः) है, तो यह विचार करना होगा कि उसकी सत्ता अपने आश्रयभूत स्कन्धों से स्वभावतः भिन्न है अथवा अभिन्न है ? ये दोनों पक्ष किसी भी प्रकार युक्तियुक्त नहीं हैं । इस रहस्य को भलीभाँति समझना 'व्याप्तिविनिश्चय' है । इसका कुछ विस्तृत विवेचन आगे किया जा रहा है ।

३—एकत्ववियुक्तविनिश्चय—यदि आत्मा और स्कन्ध स्वभावतः एकस्वभाव हैं, तो वे दोनों अत्यन्त अभिन्न हो जाएंगे । यूँ तो एकस्वभाव होने से अत्यन्त अभेद नहीं होता; किन्तु यदि स्वभावतः एकात्मक माने जाएंगे तो वे निश्चित ही अत्यन्त अभिन्न हो जाएंगे । वस्तुतः वे एकस्वभाव हैं; तथापि सामान्यबुद्धि में भिन्न-भिन्न प्रतिभासित

होते हैं । यह वस्तुस्थिति और प्रातिभासिक स्थिति की असमता सांवृतिक क्षेत्र में ही सम्भव हो सकती है; पारमार्थिक क्षेत्र में यह असमता कथमपि सम्भव नहीं है । अर्थात् यदि स्वाभाविक या तात्त्विक एकता समझ ली जाए तो वस्तुस्थिति और प्रतिभास की असमानता का ज्ञान कदापि नहीं होगा; क्योंकि यदि सत्यतः सत्ता है, तो जिस बुद्धि में उसका अवभास हो रहा है, उस बुद्धि को वस्तुस्थिति का यथार्थ अवगाहन करनेवाली मानना ही पड़ेगा । इसलिए यह कहा गया है कि आत्मा और स्कन्ध स्वभावतः एकात्मक होंगे, तो वे अवश्य ही अत्यन्त अभिन्न हो जाएंगे ।

दोनों की अभिन्नता स्वीकार करने पर अनेकानेक दोष प्रादुर्भूत होते हैं, जैसे—यदि दोंनो अभिन्न हैं, तो एक पुद्गल में जैसे अनेक स्कन्ध होते हैं, वैसे उसकी अनेक आत्मा भी माननी पड़ेंगी । अथवा—जैसे पुद्गल की एक ही आत्मा है, वैसे उसके स्कन्धों को भी एक ही मानना पड़ेगा । जैसे स्कन्ध उत्पाद-भङ्गस्वभाव होते हैं, वैसे आत्मा को भी उत्पाद-भङ्गस्वभाव मानना पड़ेगा । इस प्रकार की अनेकानेक युक्तियों की समीक्षा करने पर स्पष्ट होता है कि स्कन्ध और आत्मा (अहम्) की स्वाभाविक एक सत्ता नहीं है । इस प्रकार का सुनिश्चित ज्ञान 'एकत्ववियुक्तविनिश्चय' कहलाता है ।

४—अनेकत्ववियुक्तविनिश्चय—ऊपर जैसे आत्मा और स्कन्ध की स्वाभाविक एकता का निषेध किया गया है, वैसे उन दोंनो की आत्यन्तिक अनेकता का भी निषेध करना चाहिए । यदि स्कन्ध और आत्मा स्वभावतः भिन्न हैं, तो युक्तियों द्वारा भलीभाँति परीक्षा करने पर भी उन्हें भिन्न ही रहना चाहिए । अर्थात् उन्हें सर्वथा भिन्न होना चाहिए । यदि वे स्वरूपतः तथा द्रव्यतः सर्वथा भिन्नस्वभाव एवं असम्बद्ध हैं, तो स्कन्ध—आदि के रुग्ण, जीर्ण एवं त्यक्त होने पर आत्मा में रुग्णता, जीर्णता एवं त्याज्यता नहीं आनी चाहिए । आत्यन्तिक भेद के इस सिद्धान्त को वादी कल्पित नहीं मानता; अपितु तत्त्वतः एवं सत्यतः मानता है । ऐसी स्थिति में उसे यह कहने का अवसर भी नहीं रहता कि 'यह भिन्नता प्रातिभासिक दृष्टि से है' । इस प्रकार आत्मा और स्कन्ध को उन्हें अत्यन्त असम्बद्ध एवं भिन्न पदार्थ ही मानना पड़ेगा । ऐसा होने पर आत्मा को स्कन्धों के उत्पाद, स्थिति, भङ्ग-आदि लक्षणों से रहित मानना पड़ेगा । ऐसी

स्थिति में भेदवादी को आत्मा को पृथक् पदार्थ के रूप में दिखलाना पड़ेगा, जो कथमपि सम्भव नहीं है । इसलिए यही मानना ठीक होगा कि आत्मा स्कन्धों से स्वभावतः भिन्न नहीं है । इस प्रकार का ज्ञान 'अनेकत्ववियुक्तविनिश्चय' कहलाता है ।

इस प्रकार निःस्वभावता की सिद्धि के लिए आत्मा स्कन्ध से स्वभावतः एक या अनेक नहीं है—इस हेतु का जानना आवश्यक है ।

निःस्वभावता की सिद्धि अनुपलब्धि हेतु से होती है । अनुपलब्धि हेतु का प्रयोग वहाँ होता है, जहाँ विषय की उपलब्धि के लिए आवश्यक साधनसामग्री हो; फिर भी वह उपलब्ध न हो । जैसे—किन्हीं दो निश्चित स्थानों में गो का रहना सम्भावित है; किन्तु खोजने पर उन दोनों जगहों पर गो नहीं मिलती है और कोई तीसरा स्थान भी नहीं है, ऐसी दशा में अनुपलब्धि के द्वारा गो का अभाव निश्चित होता है । यहाँ इस बात पर भी ध्यान रखना चाहिए कि अनुपलब्धि के ज्ञान के समय गो के अभाव का ज्ञान नहीं होता; अपितु अभाव के साधक (हेतु) का ज्ञान होता है । उसी तरह आत्मा की स्वभावसत्ता का निषेध भी किया जाता है । आत्मा की सस्वभावता ही निषेध्य है, जो मनुष्य की स्वभावग्राहिका बुद्धि में स्थित है । इस स्वभावबुद्धि की एकानेकवियुक्तत्व हेतु से परीक्षा करने पर 'आत्मा नहीं है' ऐसी आत्म-शून्यता की प्रतीति होती है । इस प्रकार की स्वभाव-शून्यता का या नैरात्म्य का बोध होने पर ही पुद्‌गलनैरात्म्य का बोध होता है । एकानेकवियुक्तत्व हेतु के बल से सस्वभावता के दो अन्तों का परिहार होता है और मध्यमकदृष्टि का उद्‌गम होता है ।

(ख) धर्मनैरात्म्य—पहले पुद्‌गलनैरात्म्य के सम्बन्ध में कहा जा चुका है । अब यहाँ धर्मनैरात्म्य के सम्बन्ध में कुछ कहना आवश्यक है । यहाँ धर्म का अभिप्राय बाह्य पदार्थों से है । उपर्युक्त विवेचन से जैसे देखा गया कि जीवात्मा की स्वभावसत्ता नहीं है; विचार करने पर ज्ञात होता है कि वैसे ही बाह्य पदार्थों की भी स्वभावसत्ता नहीं है[१] । सामान्यतः घट आदि पदार्थों की सत्ता मानी

---

१. "यथ ज्ञात्वात्मसंज्ञास्तथैव सर्वत्र प्रेषिता बुद्धिः ।

जाती है; किन्तु घट अपने अणु द्रव्यों, अन्य सहकारी कारणों (प्रत्ययों) तथा कुम्भकार आदि के सम्मिलित प्रयत्न का फल है । अर्थात् उसकी सत्ता अपने से भिन्न अन्य सामग्रियों की अपेक्षा से प्रतीत होती है । उसकी अपनी निरपेक्ष (स्वतन्त्र) सत्ता नहीं है । यदि उसकी निरपेक्ष स्वसत्ता होती, तो घट, उपर्युक्त सामग्रियों से अनपेक्ष होकर स्ववश एवं स्वयम्भू सत्ता धारण करता । घट एक दृष्टान्त मात्र है । इसी के समान संसार के समस्त पदार्थ अपने से भिन्न हेतु–प्रत्ययसामग्री और अवयवों की अपेक्षा से विद्यमान हैं । इस प्रकार की विद्यमानता ही पदर्थों की स्वभावतः असत्ता का सबसे बड़ा प्रमाण है । यही परमार्थ–स्थिति है; किन्तु बुद्धि में धर्मों की स्वभावतः सत्ता प्रतिभासित होती है । जैसे प्रतिभास होता है, वैसे ही ग्रहण करना धर्मात्मदृष्टि है । किन्तु रहस्यभूत सत्य के ज्ञान के लिए उपर्युक्त निषेध्यविनिश्चय आदि चार प्रकारों से परीक्षा करनी होगी । इस परीक्षा से बाह्य पदार्थों के सम्बन्ध में बुद्धि द्वारा कल्पित स्वभाव–सत्ता निवृत्त हो जाती है और परमार्थ–शून्यता का भान होता है । परमार्थ–शून्यता के अवबोध से यह निश्चय हो जाता है कि समस्त बाह्य संसार नाममात्र है, उपचारमात्र है और इसकी स्थिति अन्यसापेक्ष है, सत्य नहीं है । धर्मनैरात्म्यबोध का यही राजमार्ग है ।

उपर्युक्त प्रकार से जब पुद्गलनैरात्म्य और धर्मनैरात्म्य के ज्ञान द्वारा पुद्गल और धर्म दोंनो की निःस्वभावता का निश्चय हो जाता है, तब यह स्पष्ट परिलक्षित होता है कि कार्य–कारण, कर्तृत्व–कर्मत्व आदि से सम्बन्धित जगत् का सम्पूर्ण व्यवहार कल्पना–प्रसूत है और वह स्वभिन्न कारणों की अपेक्षा से परिकल्पितमात्र है । वस्तुतः कार्यकारण आदि जागतिक व्यवस्था नैरात्म्य ज्ञान द्वारा ही भलीभाँति स्थापित होती है । इस प्रकार जब प्रतीत्यसमुत्पन्न धर्मों का आरोपितत्व निश्चित हो जाता है, तो उससे स्वभावशून्यता का ज्ञान पहले से अधिक स्पष्ट हो जाता है । ऐसी अवस्था में प्रतीत्यसमुत्पाद शून्यता का समानान्तर अर्थ बताने लगता है । इस स्थिति में प्रतीत्यसमुत्पाद के अर्थ में शून्यता का तथा शून्यता के अर्थ में प्रतीत्यसमुत्पाद का अवबोध होने लगता है । यह उच्च कोटि का ज्ञान है । वस्तुतः

सर्वे च तत्स्वभावा धर्म विशुद्धा गगनकल्पाः ॥"—समाधिराजसूत्र, पृ० ७७ ।

बुद्धत्व के आभिप्रायिक ज्ञान और अनुत्तरदृष्टि के यथार्थ ज्ञान का इसी समय प्रारम्भ होता है ।

उक्त प्रकार की शून्यता को समझने के लिए पूर्वोक्त एकानेकवियुक्तत्व आदि युक्तियाँ ही पर्याप्त नहीं समझी जातीं; अपितु इसके लिए अनेकानेक अन्य युक्तियाँ भी दी जाती हैं, यथा—वज्रकणयुक्ति[1], सदसदनुपपत्तियुक्ति[2], चतुष्कोटि-उत्पादानुपपत्तियुक्ति[3] तथा प्रतीत्यसमुत्पन्नत्वयुक्ति[4] आदि ।

इन अनेकानेक युक्तियों के द्वारा नैरात्म्य और शून्यता के गम्भीर अर्थ का अविपरीत ज्ञान होता है, फिर उसी का सवितर्क एवं अवितर्क भावनाओं द्वारा अभ्यास किया जाता है । भावना करने के इन विविध प्रकारों का संग्रह इस अधिप्रज्ञ शिक्षा में होता है ।

मार्ग

बुद्ध की शिक्षा में प्रज्ञा की शिक्षा सर्वोत्कृष्ट है । उस शिक्षा द्वारा जो उत्कृष्टतम प्राप्य का स्वरूप है, उसका वर्णन अधिप्रज्ञ शिक्षा के प्रकरण में किया गया है । अब शील एवं समाधि के साथ उस अधिप्रज्ञ शिक्षा के अभ्यास का मार्ग संक्षेप में दिखलाया जाएगा ।

इन शिक्षाओं के द्वारा श्रावक एवं प्रत्येकबुद्ध इन दो मार्गों द्वारा अर्हत्त्व पद, जो एक उत्तम प्रकार का मोक्ष है, प्राप्त किया जाता है । इन दोनों मार्गों को 'हीनयान'—इस एक शब्द के द्वारा

---

१. रूप आदि वस्तुएँ (धर्मी), स्वभावतः अनुत्पन्न हैं (साध्यधर्म), स्वतः परतः उभयतः अहेतुतः उत्पन्न न होने से (हेतु) ।

२. रूप आदि वस्तुएँ, स्वभावतः अनुत्पन्न हैं, हेतु के काल में सत् होकर अथवा असत् होकर उत्पन्न न होने से ।

३. रूप आदि वस्तुएँ, स्वभावतः अनुत्पन्न हैं, एक ही हेतु से अनेकफल, अनेक हेतुओं से एक ही फल, अनेक हेतुओं से अनेक फल अथवा एक ही हेतु से एक ही फल उत्पन्न न होने से ।

४. रूप आदि धर्म, निःस्वभाव हैं, प्रतीत्यसमुत्पन्न होने से । यह प्रतीत्यसमुत्पन्नत्व हेतु उपर्युक्त सभी हेतुओं में श्रेष्ठ है । इसलिए निःस्वभावता सिद्ध करने में इसे 'हेतुराज' कहा जाता है ।

बोधित किया जाता है । महायान का मार्ग उससे भिन्न है । इस मार्ग द्वारा उत्कृष्ट सत्त्व बुद्धत्व लाभ करते हैं ।

(क) हीनयान

श्रावकमार्ग

श्रावक मार्ग पाँच प्रकार का होता है, जैसे—सम्भारमार्ग, प्रयोगमार्ग, दर्शनमार्ग, भावनामार्ग एवं अशैक्षमार्ग । संक्षेप में इन मार्गों का यहाँ परिचय दिया जाता है ।

सम्भारमार्ग—यह सामान्यतः विदित है कि कर्म और क्लेशों के वश से प्राणी उच्चतम लोक (भवाग्र) से लेकर निम्नतम लोक अवीचि (नरक विशेष)-पर्यन्त जन्म और मृत्यु के चक्र में पराधीन होकर भ्रमण कर रहे हैं । यह कार्य-कारणसहित सम्पूर्ण चक्र दुःखस्वरूप है और मलावृत है । यह उपादानस्कन्ध की धारा है । यह निरन्तर संसरणशील है, अतः संसार है । इस संसार चक्र में प्राणी अनेकानेक दुःखों से पीड़ित हैं । दुःखों के अनेक प्रकार हैं, जैसे—दुःखदुःखता, विपरिणाम-दुःखता और संस्कार-दुःखता । साधक का उद्देश्य होना चाहिए कि वह इन दुःखताओं का यथावत् ज्ञान करें । इस ज्ञान से जगत् से वैराग्य उत्पन्न होता है और केवल अपने को जगत् से मुक्त करने की अकृत्रिम प्रबल इच्छा उत्पन्न होती है । इस प्रकार की इच्छा और अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए उत्साह का उत्पन्न होना ही श्रावक सम्भारमार्ग में प्रवेश करना है । इस प्रकार व्यक्ति अमार्ग से हटकर मोक्षगामी मार्ग पर आता है और उस मार्ग के लिए जो आवश्यक तीव्र आकाङ्क्षाएँ अपेक्षित होती हैं, उन सम्पूर्ण सम्भारों को एकत्र करता है ।[१]

सम्भार मार्ग त्रिविध है—मृदु, मध्य तथा अधिमात्र । इन अवस्थाओं में अशुभ-भावना, आश्वास-प्रश्वास का स्मरण रखनेवाली

---

१. ["ततश्च मोक्षभागीयमारभ्य कुशलान् सदा ।
अभ्यसेत् श्रावकत्वाय क्रमशः श्रावको भवेत् ॥"]— आचार्य चन्द्रकीर्तिकृत त्रिशरणसप्तति (सं० छा०) ।

समाधि, स्मृत्युपस्थान, प्रहाण तथा ऋद्धिपाद आदि की भावना की जाती है । इससे जगत् के प्रति शुभ, सुख, नित्य एवं आत्मदृष्टि आदि मिथ्या दृष्टियाँ दुर्बल होती हैं । क्योंकि ये मिथ्या दृष्टियाँ जगत् के प्रति अशुभ, दुःख, अनित्य एवं नैरात्य की यथार्थ दृष्टि को आवृत करती हैं तथा राग आदि क्लेशों को बढ़ाती है । इसलिए उपर्युक्त भावनाओं द्वारा इनका अभिभव किया जाता है । इसके फलस्वरूप साधक का मन सांसारिक सम्पत्तियों के संग्रह एवं उनके भोग के प्रति उन्मुख नहीं होता; प्रत्युत मोक्ष के लिए अपेक्षित मल–परिशोधन (व्यवदान) की ओर उन्मुख होता है । इन सम्भारों के द्वारा साधक ऋद्धियों के विषय में कुछ अभिज्ञाएँ प्राप्त करता है । ऋद्धियाँ प्राप्त करने का उद्देश्य पुण्यसम्भारों का सञ्चय और उर्ध्व मार्गों में गमन है ।

प्रयोगमार्ग—सम्भारमार्ग के बाद प्रयोगमार्ग का आरम्भ होता है । साधक सम्भारमार्ग के सभी गुणसम्भारों को लेकर मोक्षगामी मार्ग में वृद्धिगत होता है । उसके प्राप्त गुणों में उत्तरोत्तर वृद्धि होती है और नये–नये गुणों की उपलब्धि होती है । प्रयोग मार्ग में क्रमशः ऊष्मगत, मूर्धन्, क्षान्ति तथा अग्रधर्म की उत्तरोत्तर विकसित अवस्थाएँ आती हैं[१] ।

---

१. ज्ञातव्य है कि प्रयोगमार्ग के अनन्तर दर्शनमार्ग की उपलब्धि होती है । दर्शनमार्ग के क्षण में दर्शनहेय समस्त क्लेशों का युगपत् प्रहाण होता है । अर्थात् दर्शनमार्ग दर्शनहेय क्लेशों को दग्ध करता है । इसलिए दर्शनमार्ग को अग्नि की उपमा दी जाती है । दर्शनमार्ग की प्राप्ति में प्रयोगमार्ग का अत्यधिक योगदान है । प्रयोगमार्ग की प्रथम अवस्था को 'ऊष्मगत' इसलिए कहते हैं; क्योंकि इस अवस्था में नैरात्म्य का आलम्बन करके उत्पन्न भावनामयी प्रज्ञा दर्शनमार्ग द्वारा दग्ध होनेवाले दर्शनहेय क्लेशों को भी कुछ–कुछ तप्त करने लगती हैं । ऊष्मगत अवस्था में उत्पन्न शक्ति जब और विकसित होती है, तो उस अवस्था को 'मूर्धन्' कहते हैं । मूर्धन् के बाद 'क्षान्ति' की अवस्था आती है । इसे 'क्षान्ति' इसलिए कहते हैं; क्योंकि यह अवस्था दर्शनमार्ग द्वारा दग्ध होनेवाले क्लेशों को अत्यधिक तप्त करने में सक्षम होती है । इस अवस्था के बाद दर्शनमार्ग की प्राप्ति सुनिश्चित हो जाती है । इस अवस्था के प्राप्त हो जाने पर दुर्गतियों में उत्पाद सर्वदा के लिए निरुद्ध हो जाता है । सबके अन्त में 'अग्रधर्म' की अवस्था प्राप्त होती है । लौकिक धर्मों (भूमियों) में अग्र (आखिरी) होने से इस अवस्था को

इन चार अवस्थाओं में चार आर्य-सत्यों के तत्त्व (शून्यता) को जाननेवाली विशिष्ट भावनामयी प्रज्ञा उत्पन्न होती है । इस प्रज्ञा का उपर्युक्त चार अवस्थाओं में क्रमशः उत्कर्ष होता जाता है । चार आर्य-सत्यों के अनित्य, दुःख, शून्य एवं अनात्म आकार—इन अवस्थाओं में क्रमशः स्पष्ट स्पष्टतर होते जाते हैं । अर्थात् पहली अवस्था की अपेक्षा दूसरी अवस्था में ये अधिक स्पष्ट हो जाते हैं । कहने का आशय यह है कि ये आकार क्रमशः प्रत्यक्ष के निकट पहुँचते जाते हैं । इस प्रयोगमार्ग की अवस्था में ५ कुशल इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं, यथा-श्रद्धेन्द्रिय, स्मृतीन्द्रिय, समाधीन्द्रिय, वीर्येन्द्रिय और प्रज्ञेन्द्रिय; तथा ५ बल भी उत्पन्न होते हैं, यथा—श्रद्धाबल, स्मृतिबल, समाधिबल, वीर्यबल और प्रज्ञाबल । इसी तरह अन्य अनेक गुणों की प्राप्ति होती है । उपर्युक्त ४ अवस्थाओं में अन्तिम अवस्था अग्रधर्म की अवस्था है । यह अवस्था पृथग्जन की अन्तिम अवस्था है । अर्थात् इसके अनन्तर विकास होने पर लोकोत्तर मार्ग आरम्भ हो जाता है । अर्थात् पुद्गल आर्य हो जाता है ।

दर्शनमार्ग—अग्रधर्म की अवस्था के अनन्तर दर्शनमार्ग में प्रवेश होता है । ४ आर्यसत्य और इनके १६ आकार—इस दर्शनमार्ग के आलम्बन हैं । चार आर्य-सत्यों की निःस्वभावता इसका ग्राह्य विषय है । इस अवस्था में इन आर्यसत्यों की निःस्वभावता का साक्षात् (प्रत्यक्षतः) दर्शन होता है । इस अवस्था में क्योंकि निःस्वभावता का प्रत्यक्षतः दर्शन होता है, इसलिए दर्शनमार्ग द्वारा तीनों धातुओं (कामधातु, रूपधातु और अरूपधातु) के समस्त दर्शनहेय क्लेशों का सम्यक् प्रहाण किया जाता है । दर्शनहेय वे क्लेश हैं, जिनका तत्त्व के साक्षात्कार से ही प्रहाण सम्भव है । ये सूक्ष्म क्लेशबीज होते हैं । इनकी कुल संख्या ११२ होती है । इन्हें तीन भागों में विभक्त किया जाता है, यथा—विचिकित्सा, शीलव्रतपरामर्श और परिकल्पित सत्यकायदृष्टि । दर्शनमार्ग द्वारा इन सबका समूल उन्मूलन कर दिया जाता है; फलतः आर्यों के विशिष्ट गुणों की उत्पत्ति होती है । जब ये गुण उत्पन्न हो जाते हैं, तब उस आर्य की गणना परमार्थ संघ-रत्न में होने लगती है । यद्यपि दर्शनमार्ग द्वारा दर्शनहेय

'अग्रधर्म' कहते हैं । अर्थात् इससे आगे बढ़ने पर लोकोत्तर भूमि प्रारम्भ हो जाती है ।

क्लेशों का प्रहाण कर दिया गया है; तथापि वे क्लेश परिकल्पित क्लेश होते हैं । सहज क्लेशों का प्रहाण दर्शनमार्ग द्वारा नहीं होता । अतः दर्शनमार्ग प्राप्त हो जाने के अनन्तर साधक सहज क्लेशों के प्रहाण के लिए आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग की भावना करता है । साथ ही दर्शनमार्ग द्वारा ज्ञात शून्यता की पुनः-पुनः भावना करता है । इन आर्य अष्टाङ्गिक मार्गों को 'नैर्याणिक मार्ग' भी कहते हैं; क्योंकि ये पुद्गल को सहज क्लेशों के क्षेत्र में बाहर कर देते हैं और उसे निर्वाण के समीप पहुँचा देते हैं ।

आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग—ये ८ हैं, यथा—सम्यग्दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यग् वाक्, सम्यक् कर्मान्त, सम्यग् आजीव, सम्यग् व्यायाम, सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि ।

सम्यग्दृष्टि—आर्यों के मार्ग की दो अवस्थाएँ होती हैं—१—समाहित-मार्ग तथा २—पृष्ठलब्ध-मार्ग । समाहित मार्ग उसे कहते हैं, जिसके द्वारा शून्यता का साक्षात्कार किया जाता है तथा जो शून्यता के साक्षात्कार में संलग्न रहता है ।

पृष्ठलब्ध मार्ग समाहित-मार्ग के अनन्तर उपलब्ध होता है । इसके द्वारा शून्यता का साक्षात्कार नहीं किया जाता; अपितु यह सांवृतिक धर्मों को जानता है । सम्यग्दृष्टि समाहित-मार्ग की अवस्था में नहीं होती; अपितु पृष्ठलब्ध मार्ग की अवस्था में होती है । सम्यग्दृष्टि वह विशिष्ट प्रज्ञा है, जो पृष्ठलब्ध-मार्ग की अवस्था में भी, समाहितमार्ग की अवस्था में ज्ञात चार आर्य-सत्यों की शून्यता को जानती रहती है । अर्थात् उसे यह निश्चय रहता है कि मैने समाहित-मार्ग की अवस्था में शून्यता को जाना है ।

सम्यक् संकल्प—इसके द्वारा पहले जिस प्रकार शून्यता जानी गई है, उसकी सम्यक् हेतु और लिङ्गों द्वारा परीक्षा की जाती है । यह (सम्यक् संकल्प) उस परीक्षित शून्यता आदि यथार्थ तत्त्वों (जो कि सूत्रों के भी यथार्थ अर्थ हैं) का दूसरो को ज्ञान कराने की विधि का भी निश्चय करता है ।

सम्यग् वाक्—यद्यपि यह शून्यता निष्प्रपञ्च है, उसका यथार्थ कथन नहीं किया जा सकता; तथापि उसके स्वरूप का व्यावहारिक दृष्टि से शब्दों द्वारा ज्ञापन किया जा सकता है । अतः यह सम्यग् वाक् उस निष्प्रपञ्च शून्यता का व्याख्यान, वाद एवं ग्रन्थरचना द्वारा दूसरों को अवबोध कराती है तथा उनमें सम्यग्दृष्टि के प्रति विश्वास उत्पन्न करती है । यह मृषावाद आदि वाणी के दोषों से विशुद्ध है, अतः सम्यग् वाक् के प्रति भी विश्वास उत्पन्न करती है ।

सम्यक् कर्मान्त—आर्यों के आचरण स्वभावतः धर्म के प्रतिकूल नहीं होते; अपितु अनुकूल ही होते हैं । इसलिए सम्यक् कर्मान्त विशुद्ध शील के प्रति लोगों में विश्वास उत्पन्न करता है । यही कारण है, जिसकी वजह से इसे 'विशुद्ध काय कर्म' भी कहते हैं ।

सम्यग् आजीव—आर्यों की जीविका के साधन अत्यन्त विशुद्ध होते हैं; क्योंकि वे पाप द्वारा उपार्जित आहार एवं मिथ्याआजीव आदि से सर्वथा अमिश्रित होते हैं । उनके आचरण कायिक आडम्बर (कायकुहक) एवं वाचिक आडम्बरों (लपना) से सर्वथा रहित होते हैं । इन कारणों की वजह से वे विशुद्ध आजीव के प्रति लोगों में विश्वास उत्पन्न करते हैं ।

सम्यग् व्यायाम—यह उन कुशल प्रयत्नों का कारण है, जिसके द्वारा पूर्व ज्ञात शून्यता की पुनः पुनः भावना की जाती है । अतः यह भावनाहेय क्लेशों का प्रतिपक्ष होता है ।

सम्यक् स्मृति—आर्य शमथ एवं विपश्यना प्राप्त होते हैं । चार आर्य-सत्य इनके प्रधान आलम्बन होते हैं । यह सम्यक् स्मृति उन आलम्बनों का कभी विस्मरण नहीं होने देती । इसलिए यह मुषितस्मृतिता का प्रतिपक्ष होती है । मुषितस्मृतिता एक प्रकार का उपक्लेश है । यह वह उपक्लेश है, जिसके कारण आलम्बन का विस्मरण हो जाए करता है ।

सम्यक् समाधि—यह विशुद्ध समाधि है, जो निमग्नता एवं औद्धत्य आदि समाधि के दोषों से विमुक्त है । इसके कारण मार्ग की गति उत्तरोत्तर आगे बढ़ती जाती है । यह मार्ग के विरोधी क्लेशों का प्रतिपक्ष होती है ।

उपर्युक्त ८ आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग ४ भागों में विभक्त किये जा सकते हैं, यथा—अवच्छेदक, अवबोधक, विश्वासाधायक और प्रतिपक्ष ।

सम्यग्दृष्टि अवच्छेदक है; क्योंकि यह समाहित-मार्ग की अवस्था में ज्ञात शून्यता का अवच्छेद करती है । सम्यक् संकल्प अवबोधक है; क्योंकि यह यथार्थ तत्त्वों का दूसरों को ज्ञान कराता है । सम्यक् वाक्, सम्यक् कर्मान्त और सम्यग् आजीव—ये तीन विश्वासाधायक हैं; क्योंकि ये लोगों में उन उन अर्थों के प्रति विश्वास उत्पन्न करते हैं । सम्यग् व्यायाम, सम्यक् स्मृति एवं सम्यक् समाधि—ये तीन प्रतिपक्ष हैं; क्योंकि ये क्लेशों के विरोधी हैं[१] ।

भावनामार्ग—पूर्वोक्त आर्य अष्टाङ्गिक मार्गों की पुनः पुनः भावना करने से भावनामार्ग में प्रवेश होता है । इस अवस्था में भावनाहेय क्लेशों का प्रहाण होने लगता है । भावनामार्ग द्वारा जिन क्लेशों का प्रहाण होता है, वे ९ प्रकार के होते हैं । ये ९ क्लेश ३ भागों में विभक्त हैं, यथा—अधिमात्र, मध्य एवं मृदु । इनमें से प्रत्येक के तीन भेद हैं—अधिमात्र, मध्य और मृदु । इस प्रकार ये ९ हो जाते हैं, यथा—अधिमात्र-अधिमात्र, अधिमात्र-मध्य, अधिमात्र-मृदु—ये अधिमात्र के ३ भेद हैं । मध्य-अधिमात्र, मध्य-मध्य, मध्य-मृदु—ये मध्य के तीन भेद हैं । मृदु-अधिमात्र, मृदुमध्य, मृदु-मृदु—ये मृदु के तीन भेद हैं । इस प्रकार कुल मिलाकर ये ९ होते हैं । प्रत्येक भूमि के भावनाहेय क्लेश ९ होते हैं, भूमियाँ कुल ९ होती हैं—यह हम कह चुके हैं, अतः विस्तार से

---

१. परिच्छेदोऽथ सम्प्राप्तिः परसम्भावना त्रिधा ।
विपक्षप्रतिपक्षश्च मार्गस्याङ्गं तदष्टधा ॥
आचार्य मैत्रेयनाथविरचित मध्यान्तविभाग, पृ० १३६ ।
(मोतीलाल बनारसीदास १९७१)

इन भावनाहेय क्लेशों की संख्या ८१ हो जाती है । दर्शनमार्ग की अवस्था में शून्यता को जाननेवाला मार्ग जब पूर्वोक्त ९ क्लेशों में से 'अधिमात्र-अधिमात्र' का प्रहाण करने में समर्थ हो जाता है, तब वही 'भावनामार्ग' कहलाने लगता है । जिस प्रकार हेय क्लेश ९ प्रकार के होते हैं, उसी प्रकार उनके प्रतिपक्ष भावनामार्ग भी ९ प्रकार के होते हैं, यथा—मृदु-मृदु, मृदुमध्य, मृदु-अधिमात्र; मध्यमृदु, मध्यमध्य, मध्य-अधिमात्र; अधिमात्र-मृदु, अधिमात्रमध्य एवं अधिमात्र-अधिमात्र । ये ९ भावनामार्ग भी ९ भूमियों के प्रतिपक्ष की दृष्टि से विस्तार करने पर ८१ हो जाते हैं ।

भावना-मार्गप्राप्त श्रावक आर्य दो प्रकार के होते हैं—१. भावनाहेय क्लेशों का क्रमशः प्रहाण करनेवाले, तथा २. युगपत् प्रहाण करनेवाले ।

क्रमशः प्रहाण करनेवाला श्रावक सर्वप्रथम कामभौमिक अधिमात्र-अधिमात्र भावनाहेय क्लेशों का प्रहाण करता है, जिसके द्वारा इस क्लेश का प्रहाण होता है, वह मृदु-मृदु भावनामार्ग है । उसके बाद कामभौमिक अधिमात्र-मध्य भावनाहेय क्लेश का मृदु-मध्य भावनामार्ग द्वारा प्रहाण करता है । इसी प्रकार कामभौमिक ९ क्लेशों का क्रमशः प्रहाण करता है । तदनन्तर रूपभूमि के ३६ क्लेशों का इसी प्रकार क्रमशः प्रहाण करता है । अन्त में अरूपभूमि के ३६ क्लेशों का पूर्वोक्त विधि से क्रमशः प्रहाण करता है । पूर्वोक्त ९ भूमियों के ८१ क्लेशों में से सबसे अन्तिम क्लेश भवाग्रभूमि का मृदु-मृदु क्लेश है । इस क्लेश का जिस 'अधिमात्र-अधिमात्र' नामक अन्तिम भावनामार्ग द्वारा प्रहाण होता है, उसे 'वज्रोपम समाधि' कहते हैं । इस वज्रोपम समाधि द्वारा जिस विमुक्तिमार्ग की प्राप्ति होती है, उसके प्राप्त हो जाने पर वह पुद्गल अर्हत् हो जाता है ।

युगपत् प्रहाण करनेवाला श्रावक भिन्न प्रकार से क्लेशों का प्रहाण करता है । यह ८१ भावनाहेय क्लेशों के प्रतिपक्ष ८१ भावनामार्ग को क्रमशः उत्पन्न नहीं करता, अपितु सभी ९ भूमियों के अधिमात्र-अधिमात्र क्लेशों का एक साथ प्रहाण करता है । उसके बाद अधमात्र-मध्य क्लेशों का युगपत् प्रहाण करता है । इसी क्रम से प्रहाण करते हुए अन्त में सभी ९ भूमियों के मृदु-मृदु भावनाहेय

क्लेश का युगपत् प्रहाण करता है । इस क्लेश का प्रहाण हो जाने पर वह पुद्गल अर्हत् हो जाता है ।

प्रत्येकबुद्धमार्ग

प्रत्येकबुद्धमार्ग भी हीनयान के अन्तर्गत आनेवाला एक मार्ग है । इसका स्वरूप भी प्रायः श्रावकमार्ग की भाँति ही है; किन्तु इन दोनों के उद्देश्य अर्थात् बोधि में अन्तर है । श्रावक की अपेक्षा प्रत्येक बुद्ध अधिक कल्पों तक पुण्यसञ्चय करता है । श्रावकमार्ग की तरह भी सम्भारमार्ग आदि ५ भेद होते हैं[१] ।

(ख) महायान

इसे महायान इसलिए कहते हैं; क्योंकि इसका उद्देश्य केवल एक पुद्गल (अपना) का उद्धार मात्र नहीं है; अपितु महायान का साधक समस्त प्राणिमात्र का उद्धार अपना उद्देश्य रखता है । उद्देश्य में भेद होने से साधना में भी भेद हो जाता है । इसका उद्देश्य बुद्धत्व (सर्वज्ञत्व) की प्राप्ति और अशेष प्राणियों का अनुत्तर कल्याण है । अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए साधक अनेक कल्पों तक पारमिताओं को पूर्ण करता है तथा सर्वज्ञत्व की प्राप्ति के लिए यत्न शील होता है । इसके दो भेद होते हैं—पारमितायान और गुह्यवज्रयान ।

पारमितायान

हीनयानमार्ग की भाँति इसके भी सम्भारमार्ग आदि ५ भेद होते हैं ।

सम्भारमार्ग—इसका प्रारम्भ बोधिचित्त के उत्पाद से होता है । बोधिचित्त की उत्पत्ति का हेतु महाकरुणा है । समस्त दुःखी

---

१. ["प्रत्येकबुद्धबोध्यर्थी यः स्वभूज्ञानमिच्छति ।
यत्नं विदधमानेन बोधिः सैवाधिगम्यते ॥"]— आचार्य चन्द्रकीर्तिकृत त्रिशरणसप्तति, (सं० छा०) ।

प्राणी इस महाकरुणा के आलम्बन हैं । समस्त दुःखी प्राणियों को दुःख से विमुक्त करने की आकांक्षा इस महाकरुणा का आकार है । महाकरुणा के कारण साधक समस्त दुःखी सत्त्वों को दुःख से विमुक्त करने का सारा भार (उत्तरदायित्व) अपने कन्धे पर ले लेता है । इस महान् कार्य (उद्देश्य) की पूर्ति के लिए साधक बुद्धत्व प्राप्त करना चाहता है । इस प्रकार बुद्धत्व प्राप्ति की अकृत्रिम इच्छा का उत्पाद ही 'बोधिचित्तोत्पाद' है । बोधिचित्त उत्पन्न होने पर पुद्गल 'बोधिसत्त्व' कहलाता है । वह जिनपुत्र, महात्मा आदि नामों से लोक में विश्रुत होता है । वह देव एवं मनुष्य आदि समस्त प्राणियों की पूजा का पात्र होता है । जिस क्षण बोधिचित्त का उत्पाद होता है, उसी क्षण से सम्भारमार्ग उत्पन्न हो जाता है । बोधिचित्त के उत्पन्न होते ही बोधिसत्त्व के अनेक अकुशल (पाप) शान्त हो जाते हैं और अनेकविध पुण्य सञ्चित होने लगते हैं ।

इस सम्भारमार्ग के क्रमशः तीन प्रकार होते हैं—मृदु, मध्य एवं अधिमात्र । अधिमात्र सम्भारमार्ग की अवस्था में सम्पूर्ण ध्यानों के मौल प्राप्त करना आवश्यक होता है । ध्यानों के मौल प्राप्त हो जाने से अनेक प्रकार की अभिज्ञाओं एवं ऋद्धियों की सिद्धि होती है । ऋद्धिविध अभिज्ञा के कारण अनेक बुद्धक्षेत्रों में आना-जाना सुगम हो जाता है । बुद्धक्षेत्रों में जाकर बोधिसत्त्व वहाँ अनेक बुद्धों की उपासना करता है । इस अधिमात्र सम्भारमार्ग की अवस्था में ही एक विशेष प्रकार की समाधि प्राप्त होती है, जिसे 'स्रोतोऽनुगत समाधि' कहते हैं । इस समाधि के बल से बोधिसत्त्व विविध बुद्धक्षेत्रों में स्थित बुद्धों के गम्भीर एवं उदार उपदेशों को सुनने में समर्थ हो जाता है, तथा उपदेश के अनुसार भावना करने में सक्षम हो जाता है । इस सम्भारमार्ग की अवस्था में ही बोधिसत्त्व को सभी धर्मों की निःस्वभावता (शून्यता) का भी भान होता है ।

प्रयोगमार्ग—सम्भारमार्ग की अवस्था में ज्ञात शून्यता के ज्ञान का अन्य पारमिताओं के साथ अभ्यास किया जाता है । इस अभ्यास के कारण ज्ञान में उत्तरोत्तर प्रकर्षता आती जाती है । इसी क्रम में एक ऐसी अवस्था आती है, जब साधक शून्यता को यद्यपि कल्पना द्वारा ही जानता है; तथापि उसे शून्यता का आलम्बन करनेवाले शमथ एवं विपश्यना के युगल की सिद्धि हो जाती है । अर्थात् उसे शून्यता

को आलम्बन करनेवाली भावनामयी प्रज्ञा की प्राप्ति होती है । यही अवस्था प्रयोगमार्ग का प्रारम्भ है । प्रयोगमार्ग ४ प्रकार का होता है—ऊष्मगत, मूर्धन्, क्षान्ति एवं अग्रधर्म (धर्मवर्धन) । ये चारों अवस्थाएँ क्रमशः उत्तरोत्तर विकसित अवस्थाएँ हैं । इन अवस्थाओं में शून्यता का ज्ञान क्रमशः अधिक स्फुट होता जाता है । इन अवस्थाओं में ग्राह्य (विषय) एवं ग्राहक (बुद्धि) के द्वैत का स्थूल प्रतिभास क्रमशः क्षीण होने लगता है । द्वैत प्रतिभास के क्षीण हो जाने से शून्यता का प्रतिभास क्रमशः अधिक स्पष्ट होने लगता है । फलतः ग्राह्य एवं ग्राहक को स्वभावतः (सत्यतः) ग्रहण करनेवाली बुद्धि उत्तरोत्तर दुर्बल होने लगती है । जाग्रत अवस्था में हर समय उपाय एवं प्रज्ञा का अभ्यास करते रहने से साधक स्वप्न में भी धर्मों को सस्वभाव नहीं देखता; अपितु सभी धर्मों को निःस्वभाव ही देखता है । उसे हीनयान का मनस्कार (स्वार्थबुद्धि) स्वप्न में भी उत्पन्न नहीं होता तथा समस्त जीवों को धर्मोपदेश करने की आकाङ्क्षा सर्वदा बनी रहती है । मूर्धन् की अवस्था में बोधिसत्त्व महाभूत, व्याधि एवं ग्रह आदि से उत्पन्न सभी प्रकार की बाधाओं तथा दूसरों को हानि पहुँचानेवाले सभी प्रकार के हिंस्रकों को शमन करने में समर्थ हो जाता है । उसकी वाणी सत्य (सिद्ध) हो जाती है । अर्थात् वाग्सिद्धि हो जाने से वह सभी प्रकार के आधिभौतिक एवं आधिदैविक बाधाओं का शमन करने में समर्थ हो जाता है । प्रयोगमार्ग प्राप्त हो जाने पर तीक्ष्णबुद्धि बोधिसत्त्व की सम्यक् सम्बोधि सुनिश्चित हो जाती है । अर्थात् वह विना बोधि प्राप्त किये अपने मार्ग से विचलित नहीं हो सकता । इस अवस्था में बोधिसत्त्व में मार्ग से च्युत न हो सकने के अनेक लक्षण प्रकट हो जाते हैं । इन्हें ही 'अवैवर्तिक लिङ्ग' कहते हैं । इस अवस्था में इतने अद्भुत गुण प्रादुर्भूत होते हैं, जिनका वर्णन नहीं किया जा सकता ।

दर्शनमार्ग—प्रयोगमार्ग के अग्रधर्म की अवस्था से आगे बढ़ने पर जब शून्यता का साक्षात् (प्रत्यक्षतः) दर्शन होने लगता है, तो उसे 'दर्शनमार्ग' कहते हैं । दर्शनमार्ग द्विविध है— समाहित दर्शनमार्ग एवं पृष्ठलब्ध दर्शनमार्ग । समाहित दर्शनमार्ग भी दो प्रकार का होता हैं आनन्तर्यमार्ग एवं विमुक्तिमार्ग । आनन्तर्यमार्ग द्वारा हेय क्लेशों का प्रहाण किया जाता है । विमुक्तिमार्ग आनन्तर्यमार्ग के बाद की अवस्था है ।

यह मार्ग क्लेशों का प्रहाण नहीं करता; अपितु आनन्तर्यमार्ग द्वारा किये गये क्लेशों के प्रहाण को धारण करता है । दर्शनमार्ग का प्रारम्भ आनन्तर्यमार्ग से होता है । इसके द्वारा प्रहाण किये जानेवाले आवरणों में क्लेशावरण और ज्ञेयावरण दोनों आते हैं । क्लेशावरण ११२ तथा ज्ञेयावरण १०८ प्रकार के होते हैं । ये सब सहजात नहीं होते; अपितु परिकल्पित होते हैं । ये क्लेशावरण और ज्ञेयावरण तीनों धातुओं के होते हैं । इस आनन्तर्यमार्ग द्वारा इन सभी के बीजों का युगपत् प्रहाण किया जाता है । इस दर्शनमार्ग की अवस्था में पुद्गल कर्म–क्लेशों के वश में नहीं होता तथा इन कर्म–क्लेशों की वजह से होनेवाले जन्म–मरण आदि दुःखों से प्रभावित नहीं होता । अर्थात् इन दुःखों से वह सर्वथा विमुक्त होता है । इस अवस्था में 'सर्वधर्मसुखङ्गम' नाम की एक प्रकार की समाधि प्राप्त होती है, जिसके द्वारा दुःखों की अनुभूति विनष्ट हो जाती है । फलतः इस समाधि को प्राप्त आर्य अस्त्र, शस्त्र, विष, अग्नि आदि दुःखद कारणों का समागम होने पर भी दुःखी नहीं होता; अपितु उसे सदा सुख की ही अनुभूति होती रहती है ।

भावनामार्ग—दर्शनमार्ग की अवस्था में अभ्यस्त पारमिताओं के अत्यन्त विकसित हो जाने पर भावनामार्ग की उपलब्धि होती है । भावनामार्ग के अन्तर्गत १० भूमियाँ होती हैं, यथा—१. प्रमुदिता, २. विमला, ३. प्रभाकरी, ४. अर्चिष्मती, ५. सुदुर्जया, ६. अभिमुखी, ७. दूरङ्गमा, ८. अचला, ९. साधुमती एवं १०. धर्ममेघा[१] ।

इन भूमियों की अवस्था में १६ भावनाहेय क्लेशावरण तथा १०८ भावनाहेय ज्ञेयावरणों के बीजों का प्रहाण किया जाता है । भावनामार्ग द्वारा इनका प्रहाण अधिमात्र–क्रम से होता है । अर्थात् सर्वप्रथम अधिमात्र–अधिमात्र हेय का प्रहाण होता है, तदनन्तर मध्य हेयों का तथा अन्त में मृदु हेयों का प्रहाण होता है । इन हेयों का प्रतिपक्ष भावनामार्ग मृदुक्रम से उत्पन्न होता है । अर्थात् सर्वप्रथम मृदु–मृदु भावनामार्ग, तदनन्तर मध्य भावनामार्ग तथा अन्त में अधिमात्र भावनामार्ग उत्पन्न होता है । इन भूमियों का काल अत्यन्त लम्बा

१. इन भूमियों के विस्तृत ज्ञान के लिए मध्यमकावतार १–१० परिच्छेद देखें तथा अभिसमयालङ्कार में प्रथम परिवर्त देखें ।

होता है । एक-एक भूमि की अवस्था अनेक कल्पों तक रहती है । इस बीच करोड़ों बुद्धों का साक्षात्कार होता है । बोधिसत्त्व बुद्धत्व की प्राप्ति के लिए उन बुद्धों की उपासना करता है और उन बुद्धों से धर्मश्रवण करता है । चार-संग्रह वस्तुओं द्वारा सत्त्वों का परिपाक करता है । अर्थात् सत्त्वों की चित्तसन्तानों में कुशलमूल स्थापित करता है । दान, प्रियवादिता, अर्थचर्या एवं अविपरीतार्थता (या समानार्थता)— ये ४ संग्रह- वस्तुएँ हैं ।

इन १० भूमियों के अपने पृथक्-पृथक् परिशोधन होते हैं तथा इनकी प्राप्ति होने पर प्रत्येक भूमि के अपने-अपने विशिष्ट लक्षण (चिह्न) दृष्टिगोचर होते हैं । ऊपर-ऊपर की भूमि प्राप्त होने पर उत्कृष्ट गुण प्रादुर्भूत होते हैं । इन गुणों का आकलन करना सामान्य बुद्धि से परे है तथा वे वाणी के अगोचर हैं । इन भूमियों को क्रमशः प्राप्त करते हुए अन्त में १०वीं भूमि प्राप्त होती है । इस भूमि की अन्तिम अवस्था में 'चरमभाविक आनन्तर्य मार्ग' की उपलब्धि होती है, जिसके द्वारा अतिसूक्ष्म ज्ञेयावरणों की धारा उच्छिन्न कर दी जाती है । यह सत्त्व की अन्तिम अवस्था है । इससे आगे बढ़ने पर सत्त्व बुद्ध हो जाता है । बुद्ध अनन्त गुणों से युक्त है । इनके गुणों का वर्णन आगे किया जाएगा ।

गुह्य वज्रयान

गुह्यवज्रयान पारमितायान से अत्यधिक उत्कृष्ट है; किन्तु इसके उद्देश्य (फल) और पारमितायान के उद्देश्य में कुछ भी भेद नहीं है । इन दोनों का उद्देश्य समानरूप से बुद्धत्व ही है तथा उस बुद्धत्व के स्वरूप आदि में भी (इन दोनों में) कोई भेद नहीं है; किन्तु उस बुद्धत्वरूपी फल को प्राप्त करने के उपाय (हेतु) में इन दोनों में महान् अन्तर है । इसी से इन दोनों यानों में भेद किया जाता है[१] ।

---

१. एकार्थत्वेऽप्यसंमोहाद् बहूपायाददुष्करात् ।
तीक्ष्णेन्द्रियाधिकाराच्च मन्त्रशास्त्रं विशिष्यते ॥— आचार्य उद्भट त्रिपिटकमल विरचित न्यायत्रयप्रदीप ।

फलरूपी बुद्धकाय दो प्रकार का होता है—धर्मकाय एवं रूपकाय । जिस प्रकार बुद्धकाय दो होते हैं, उसी प्रकार उनके असाधारण हेतु भी दो प्रकार के होने चाहिए । बोधिचित्त के द्वारा परिगृहीत शून्यता को जाननेवाली प्रज्ञा धर्मकाय की असाधारण हेतु है तथा वह रूपकाय की सहकारी प्रत्यय है । इस विषय में भी दोनों यानों का मत समान है । किन्तु रूपकाय के असाधारण हेतु के विषय में इन दोनों यानों में मौलिक भेद है । गुह्यवज्रयान में रूपकाय का असाधारण हेतु 'गम्भीर उपाय' होता है । पारमितायान में रूपकाय का असाधारण हेतु 'गम्भीर उपाय' न होकर बोधिचित्त एवं षड् (६) पारमिता मात्र हैं । उपाय की इस असमानता के कारण पारमितायान में बुद्धत्व की प्राप्ति में अनेक जन्म लग जाते हैं । इस यान के आधार पर एक जन्म में ही बुद्धत्व प्राप्त कर लेना असम्भव है । गुह्यवज्रयान के द्वारा तीक्ष्णेन्द्रिय पुद्गल एक ही जन्म में या कुछ ही वर्षों में बुद्धत्व प्राप्त कर सकता है ।

गुह्यवज्रयान में रूपकाय की प्राप्ति का असाधारण हेतु जो 'गम्भीर उपाय' कहा गया है और जिसकी वजह से पारमितायान से इस यान में भेद होता है, वह गम्भीर उपाय 'अपने इष्ट देव से योग की भावना' है । इसके द्वारा फल अवस्था में जो रूपकाय की प्राप्ति होनेवाली है, उस (रूपकाय) की आकृति एवं स्थान आदि से समानता की भावना की जाती है । गुह्यवज्रयान का यही गम्भीर उपाय है ।

विनेयजनों की बुद्धि की तीक्ष्णता-मन्दता आदि के अनुसार तन्त्रवर्ग (तन्त्रपिटक) मूलतः चार प्रकार का होता है[१] । उन चारों में भी प्रत्येक के अनेक भेद होते हैं । तन्त्रवर्गों में उपदिष्ट मार्ग विविध प्रकार के होते हैं । उनके स्वरूप, पर्याय, प्रतिपादनशैली और फल प्राप्त कराने में उनकी गति आदि भिन्न-भिन्न होते हैं । इन सबके सूक्ष्म मर्म सामान्यरूप से जनसमाज में प्रकट नहीं किये जा सकते । वे उन्हीं विशिष्ट पुरुषों को गुप्तरूप से बतलाए जा सकते हैं, जो वज्रयान-मण्डल में प्रविष्ट हैं तथा जिनकी चित्तसन्तति

१. ["मन्देभ्यस्तु क्रियातन्त्रमक्रियातन्त्रमुत्तरम् ।
योगतन्त्रं सुसत्त्वेभ्यस्तत ऊर्ध्वमनुत्तरम् ॥"]— वज्रपञ्जर, (सं० छा०) ।

अभिषेक द्वारा परिपुष्ट हो गई है । इसलिए हम यहाँ उनका प्रतिपादन नहीं करेंगे; फिर भी तन्त्र मार्ग की भावना करने का यहाँ संक्षेप से परिचय दिया जा रहा है ।

जो पुरुष तन्त्रमार्ग की भावना करना चाहता है, उसे सर्वप्रथम वैराग्य से युक्त होना चाहिए, जो (वैराग्य) सभी मार्गों का सामान्य आधार है तथा उसे बोधिचित्त से समन्वित होना चाहिए । ऐसे पुरुष को सर्वप्रथम सभी लक्षणों (योग्यताओं) से युक्त गुरु के पास जाकर किसी भी तन्त्रवर्ग के मण्डल में अभिषेक प्राप्त करना चाहिए । दीक्षित हो जाने पर उसे सभी प्रकार के शीलों का यथानुरूप पालन करना चाहिए । शील के आधार पर ही उत्तरोत्तर आगे के मार्गों की भावना की जाती है । तन्त्रमार्ग की भावना करते समय उसके आभास–पक्ष और शून्यता–पक्ष—इन दो पक्षों पर विशेषरूप से ध्यान देना चाहिए । देवमण्डल को आलम्बन बनाकर उसमें चित्त का एकाग्र रहना 'आभासप्रक्ष' है । इसके द्वारा बुद्ध के रूपकाय की सिद्धि की जाती है । चित्त को शून्यता में लीन करना 'शून्यतापक्ष' है । यह एक विशिष्ट अवस्था होती है, जो प्रभास्वर एवं निष्प्रपञ्च होती है । इसे ही 'महामुद्रा' कहते हैं । चित्त को इस अवस्था में विलीन करने के लिए शरीर के भीतर स्थित वायु एवं नाड़ियों को मर्माहत करनेवाले अच्छे उपायों का आलम्बन भी करना पड़ता है । इसके द्वारा बुद्ध के धर्मकाय की सिद्धि की जाती है ।

फल (बुद्धकाय)

पहले कहा गया है कि सूत्र (पारमिता) और तन्त्र के मार्ग द्वारा बुद्धत्व फल की प्राप्ति होती है । उस फलरूपी बुद्धकाय का यहाँ सङ्क्षेप से वर्णन किया जा रहा है । जिस प्रकार प्राकृतिक काय, चित्त एवं उनकी शून्यता आदि अनेक प्रकार होते हैं, उसी प्रकार फल अवस्था में भी काय, चित्त और उनकी शून्यता आदि अनेक प्रकार होते हैं । 'बुद्धकाय' में 'काय' शब्द का अभिप्राय केवल शरीर से नही है; अपितु चित्त एवं शून्यता के लिए भी काय शब्द का व्यवहार होता है । बुद्धकाय चार प्रकार का होता है,

यथा—स्वभावकाय, ज्ञानधर्मकाय, सम्भोगकाय, एवं निर्माणकाय[१] । इन चारों कायों का यहाँ क्रमशः वर्णन किया जा रहा है ।

(क) स्वभावकाय—स्वभावकाय दो प्रकार का होता है—आगन्तुक-विशुद्ध धर्मकाय और स्वभाव-विशुद्ध धर्मकाय । पहले हमने कहा है कि १०वीं भूमि की अन्तिम अवस्था में 'चरम-भाविक आनन्तर्यमार्ग' उत्पन्न होता है, जिसे 'वज्रोपम समाधि' कहते हैं । उस समाधि के द्वारा ज्ञेयावरण का सर्वथा प्रहाण होता है । उस आनन्तर्यमार्ग के तुरन्त बाद (अव्यवहितोत्तर क्षण में) एक विमुक्ति मार्ग की उपलब्धि होती है, जो क्लेशावरण और ज्ञेयावरण—इन दोनों आवरणों के क्षीणत्व से विशिष्ट होता है । अर्थात् जो दोनों आवरणों के क्षय को धारण करता है । उपर्युक्त दोनों आवरण आगन्तुक मल हैं । अतएव उन दोनों का प्रहाण सम्भव है । इन दोनों आवरणों का विनाश (निरोध) ही 'आगन्तुक-विशुद्ध धर्मकाय' कहलाता है । अर्थात् आगन्तुक मलों से विशुद्धि ही 'आगन्तुक-विशुद्ध धर्मकाय' है ।

प्राकृतिक अवस्था में भी जीवों के चित्त स्वभावतः शून्य (निःस्वभाव) होते हैं । चित्तों की उस स्वभावतः शून्यता को 'स्वभावगोत्र' कहते हैं । अर्थात् उसे बुद्धगोत्र (बुद्धबीज) कहते हैं । उसका ही एक नाम 'तथागतगर्भ' भी अनेक शास्त्रों में उपलब्ध होता है । यह बुद्धगोत्र समस्त जीवों के चित्तों में विद्यमान होता है । इसीलिए सभी जीव बुद्धत्व प्राप्ति के योग्य होते हैं । चित्तनिःस्वभावता का आश्रय चित्त जब अभ्यास द्वारा अपने विकास की अन्तिम अवस्था में सभी प्रकार के आगन्तुक मलों से विमुक्त हो जाता है, तब उसकी निःस्वभावता (शून्यता) 'स्वभाव-विशुद्ध धर्मकाय' कहलाती है । यह स्वभाव-विशुद्ध धर्मकाय जीवों की प्राकृत अवस्था में नहीं होता; अपितु (यह) बुद्धत्व प्राप्ति की अवस्था में ही प्रादुर्भूत होता है; फिर भी यह अनित्य नहीं होता । यह हेतु-प्रत्ययों से उत्पन्न नहीं होता, अतः असंस्कृत होता है । इसके स्वरूप में कभी भी परिवर्तन नहीं होता, अतः नित्य एवं अविकारी होता है ।

---

१. "स्वाभाविकः ससांभोगो नैर्माणिकोऽपरस्तथा ।
धर्मकायः सकारित्रश्चतुर्धा समुदीरितः ।"'— आर्य मैत्रेयनाथकृत अभिसमयालङ्कार, पृ० २६ ।

(ख) ज्ञानधर्मकाय—पूर्वोक्त 'स्वभाव धर्मकाय' का आश्रय निर्मल चित्त ही 'ज्ञानधर्मकाय' कहलाता है । अर्थात् प्राकृत अवस्था में बुद्धगोत्र का आश्रयभूत समल चित्त ही, विकास की अन्तिम अवस्था में जब निर्मल हो जाता है और स्वभाव धर्मकाय को धारण करने लगता है, तब वही 'ज्ञानधर्मकाय' कहलाने लगता है । सभी यथावत् (परमार्थ) और यावत् (सांवृतिक) ज्ञेय (विषय) इस चित्त के आलम्बन होते हैं । यह चित्त सभी धर्मों को प्रत्यक्षतः (सामने रखे हुए की भाँति) देखता है । इसे ही 'सर्वज्ञज्ञान' कहते हैं । यद्यपि यह स्वभावतः अभिन्न (एकविध) होता है; फिर भी व्यावृत्ति की दृष्टि से इसके अनेक भेद होते हैं । ३७ बोधिपाक्षिक वर्ग आदि २१ अनास्रव ज्ञानवर्गों में इसका विभाग किया जा सकता है । इन सबका प्रतिपादन आगे बुद्ध के चित्त के गुणों के वर्णनप्रसङ्ग में किया जाएगा ।

उपर्युक्त स्वभावकाय एवं ज्ञानधर्मकाय—ये दोनों सामान्य जीवों के प्रत्यक्ष के विषय नहीं हैं; अपितु बुद्धों के ही प्रत्यक्ष के गोचर हैं ।

(ग) सम्भोगकाय—पहले कहा गया है कि बोधिसत्त्व की १० भूमियाँ होती हैं । उनमें से ८वीं भूमि से लेकर एक विशेष प्रकार की भावना की जाती है, जिसे 'क्षेत्रपरिशुद्धि प्रयोग' कहते हैं । इसके द्वारा भविष्य में होनेवाले बुद्ध के शरीर एवं स्थान की सिद्धि होती है । ८वीं, ९वीं और १०वीं भूमि को 'विशुद्धभूमि' कहते हैं; क्योंकि इन भूमियों में स्वभावग्राहक दृष्टि उद्भूत नहीं होती । इन भूमियों में होनेवाली उपायप्रधान पारमिताओं को 'क्षेत्रपरिशुद्धि प्रयोग' कहते है । यह प्रयोग सम्भोगकाय एवं स्थान का उपादान हेतु होता है । इसके द्वारा सम्भोगकाय एवं स्थान को सिद्ध करनेवाले कुशलमूलों का परिपाक किया जाता है । यह क्षेत्रपरिशुद्धि प्रयोग दो प्रकार का होता है—भाजनपरिशुद्धि प्रयोग एवं सत्त्वपरिशुद्धि प्रयोग । भाजनपरिशुद्धि प्रयोग द्वारा सम्भोगकाय के भाजनलोक (स्थान-आदि) की सिद्धि की जाती है तथा सत्त्वपरिशुद्धि प्रयोग के द्वारा सम्भोगकाय के मण्डल में होने वाले अनास्रव सत्त्वों की उपस्थिति सिद्ध की जाती है । सम्भोगकाय का स्थान एक विशिष्ट स्थान होता है, जिसे 'अकनिष्ठ घनव्यूह' कहते हैं । पुद्गल जब बुद्ध होता है, तब

सर्वप्रथम इस 'अकनिष्ठ घनव्यूह' क्षेत्र में ही बुद्ध होगा। यह बुद्ध ५ विनियत धर्मों से युक्त होता है। इसे ही 'सम्भोगकाय' कहते हैं। सम्भोगकाय का स्थान, काय, परिवार, धर्म और काल–ये सब निश्चित होते हैं, अतः इन्हें ५ विनियत कहते हैं। सम्भोगकाय सर्वदा 'अकनिष्ठ घनव्यूह' क्षेत्र में ही निवास करते हैं, इसलिए उनका स्थान विनियत होता है। उनका काय ३२ महापुरुष लक्षणों एवं ८० अनुव्यञ्जनों से सर्वदा युक्त होता है, इस लिए उनका काय भी विनियत कहलाता है। उनके परिवार में केवल बोधिसत्त्व आर्य ही विद्यमान होते हैं। पृथग्जन, श्रावक एवं प्रत्येकबुद्ध आर्य उन (सम्भोगकाय) का साक्षात्कार करने में समर्थ नहीं होते। इसलिए इनका परिवार भी निश्चित है। वे (सम्भोगकाय) सर्वदा महायान धर्म का ही उपदेश करते हैं, हीनयान धर्मों का कदापि उपदेश नहीं करते। इसलिए इनका धर्म भी नियत है। जब तक संसार स्थित है, तब तक वे अपने इस काय में जरा, मृत्यु आदि विकारों को नहीं दिखलाते। इसलिए इनका काल भी नियत है। इस तरह इन ५ विनियत धर्मों से युक्त रूपकाय को हम 'सम्भोगकाय' कहते हैं। यह (सम्भोगकाय) परमार्थ सत्य का साक्षात्कार करनेवाले महायानिक आर्यों का ही गोचर (विषय) होता है। यही काय निर्माणकाय का आधार है।

(घ) **निर्माणकाय**—उपर्युक्त सम्भोगकाय को आधार बनाकर निर्मित काय 'निर्माणकाय' कहालाता है। इसका साक्षात्कार पृथग्जन भी कर सकते हैं। यह पूर्वोक्त ५ विनियत धर्मों से युक्त नहीं होता। अर्थात् यह ५ विनियतों से वियुक्त रूपकाय है। निर्माणकाय तीन प्रकार का होता है—उत्तम निर्माणकाय, शैल्पिक निर्माणकाय एवं नैर्याणिक निर्माणकाय।

१—उत्तम निर्माणकाय—उत्तम निर्माणकाय का सम्भोगकाय से साक्षात् सम्बन्ध होता है। ये जम्बूद्वीप आदि विभिन्न लोकों में द्वादश (१२) चरित्रों का प्रदर्शन करते हैं। इन चरित्रों के द्वारा वे विनेय जनों का कल्याण सिद्ध करते हैं। यह उत्तम निर्माणकाय भी ३२ महापुरुष लक्षणों एवं ८० अनुव्यञ्जनों से विभूषित होता है। शाक्यमुनि गौतमबुद्ध इस काय के उदाहरण है। इनके द्वादश चरित्र ये हैं, यथा—१. सर्वप्रथम तुषित क्षेत्र से च्युति, २. मातृकुक्षि प्रवेश,

३. लुम्बिनी उद्यान में अवतरण, ४. शिल्प विषय में नैपुण्य एवं कौमार्योचित ललित क्रीड़ा, ५. रानियों के परिवार के साथ राज्यग्रहण, ६. नगर के चारों ओर जाकर वृद्ध, रोगी आदि ४ पूर्वनिमित्तों को देखकर ससंवेग प्रव्रज्या, ७. नेरञ्जना नदी के तट पर ६ वर्षों तक लगातार कठिन तपश्चर्या, ८. बोधिवृक्ष के मूल में उपस्थिति, ९. मार की सम्पूर्ण सेना का दमन, १०. वैशाख पूर्णिमा के दिन सम्यक् सम्बोधि की प्राप्ति, ११. आषाढ़ मास की चतुर्थी तिथि के दिन चार आर्यसत्यविषयक धर्मचक्र का प्रवर्तन तथा १२. कुशीनगर में महापरिनिर्वाण । विनेय जनों को दृष्टि में रखकर ये विभिन्न १२ चरित दिखलाए गये हैं । इनमें से कुछ चरित बोधिसत्त्व के चरित के रूप में तथा कुछ चरित बुद्धचरित के रूप में दिखलाए गये हैं । वस्तुतः तुषित क्षेत्र से च्युति से लेकर महापरिनिर्वाण तक सारे चरित्र बुद्धचरित्र ही हैं; फिर भी विविध प्रकार के विनेयजनों को दृष्टि में रखकर उपायकौशल्य के रूप में ये (चरित) विभिन्न प्रकार से दिखलाए गये हैं ।

२—शैल्पिक निर्माणकाय—उत्तम निर्माणकाय को आधार बनाकर उत्तम कलाकार के रूप में प्रकट होना 'शैल्पिक निर्माणकाय' कहलाता है । एक समय शाक्यमुनि ने अपनी कला के अभिमानी गन्धर्वराज प्रमुदित का दमन करने के लिए स्वयं को वीणावादक के रूप में प्रकट किया था । यह शैल्पिक निर्माणकाय का उदाहरण है ।

नैर्याणिक निर्माणकाय—उत्तम निर्माणकाय के अतिरिक्त बुद्ध का अन्य सत्त्व के रूप में जन्म लेना 'नैर्याणिक काय' कहलाता है । उत्तम निर्माणकाय के रूप में शुद्धोदन के पुत्र होने से पहले बुद्ध तुषित क्षेत्र में देवपुत्र सच्छ्वेतकेतु के रूप में उत्पन्न हुए थे । उनका वह जन्म 'नैर्याणिक काय' का उदाहरण है ।

उपर्युक्त ४ कायों में से स्वभावकाय एवं ज्ञानधर्मकाय—इन दो कायों को विनेय जन देख नहीं सकते । सम्भोगकाय एवं निर्माणकाय-ये दो रूपी काय विनेय जनों द्वारा अपने पुण्य के अनुसार देखे जा सकते हैं । ये दो काय जगत् के महान् हित का सम्पादन करते हैं ।

उपर्युक्त ४ काय ३ कायों में भी विभक्त हो सकते हैं। जैसे—स्वभावकाय एवं ज्ञानधर्मकाय का एक धर्मकाय में अन्तर्भाव कर देने पर ये ३ काय भी हो जाते हैं। ये ३ काय दो काय में भी विभक्त हो सकते हैं। स्वभावकाय और ज्ञानधर्म काय का एक धर्मकाय में तथा सम्भोगकाय एवं निर्माणकाय का एक रूपकाय में अन्तर्भाव करने पर ये दो काय भी हो सकते हैं।

(ङ) बुद्धगुण

फलरूपी बुद्ध के अनेकानेक गुण होते हैं। वे सब काय, वाक्, चित्त एवं कर्म—इन ४ भागों में भी विभक्त किये जा सकते हैं। हम इन्हीं ४ भागों का यहाँ संक्षेप में वर्णन प्रस्तुत कर रहें हैं।

कायगुण—हस्त एवं पाद तल में स्वर्णचक्र का स्पष्टरूप से अङ्कित होना आदि ३२ महापुरुष लक्षण तथा नाखूनों का ताम्र की भाँति रक्त वर्ण होना (आताम्रनखत्वम्) आदि ८० अनुव्यञ्जन बुद्ध के कायगुण हैं। इन ३२ महापुरुष लक्षणों एवं ८० अनुव्यञ्जनों से सुशोभित काय के दर्शनमात्र से सत्त्वों में मोक्ष के बीज स्थापित हो सकते हैं। ये ३२ महापुरुषलक्षण और ८० अनुव्यञ्जन सास्रव-स्कन्धस्वरूप नहीं हैं और न जडस्वरूप हैं; अपितु सर्वज्ञज्ञानस्वरूप हैं। बुद्ध का प्रत्येक महापुरुष-लक्षण, प्रत्येक अनुव्यञ्जन, यहाँ तक कि प्रत्येक रोम भी सभी ज्ञेयों का प्रत्यक्षतः (साक्षात्) दर्शन कर सकता है। विश्व के अनेक ब्रह्माण्डों में बुद्ध एक साथ अनेकविध कायिक लीला का प्रदर्शन करते हैं। वे किसी क्षेत्र में जन्मग्रहण, किसी क्षेत्र में धर्मचक्रप्रवर्तन, कहीं बोधिसत्त्व की चर्या तथा कहीं निर्वाण की प्राप्ति आदि अनेकविध ललित चरित्रों का लीला (माया) के रूप में युगपत् (एक साथ) प्रदर्शन करते रहते हैं। वे इन चरित्रों द्वारा विनेय जनों को सन्मार्ग में प्रतिष्ठित करते हैं। वे अपने प्रत्येक रोमछिद्रों में तीनों कालों के सभी बुद्धों के काय एवं स्थान दिखला सकते हैं तथा प्रत्येक रोमछिद्र में अपनी शैक्ष अवस्था की सारी चर्याएँ दिखला सकते हैं। ये सब बुद्ध के कायगुण हैं।

वाक्‌गुण—बुद्ध की वाणी 'स्निग्ध वाक्' कहलाती है; क्योंकि इसके द्वारा सत्त्वों के आशय (चित्त) के अनुसार उनमें यथोचित कुशल मूलों की उत्पत्ति एवं वृद्धि की जा सकती है । इसे 'मृदु वाक्' भी कहते हैं; क्योंकि इसके श्रवणमात्र से सुननेवालों के मन सौमनस्य से आप्लुत हो जाते हैं । इसे 'मनोज्ञ वाक्' भी कहते हैं; क्योंकि इसके द्वारा दो सत्य और प्रतीत्यसमुत्पाद आदि उत्तम अर्थों का प्रतिपादन किया जाता है । इसे 'मनोरम वाक्' भी कहते हैं; क्योंकि इसकी अभिव्यक्ति सुस्पष्ट होती है । बुद्ध की वाक् के इसी प्रकार के ६४ अङ्ग होते हैं, इन्हें 'ब्रह्मस्वर' भी कहते हैं । ये ६४ अङ्ग बुद्ध की एक वाक् में ही विद्यमान होते हैं । बुद्ध की वाणी की एक सबसे बड़ी विशेषता यह है कि जब उसका प्रयोग किया जाता है, तब वहाँ उपस्थित देव, यक्ष, मनुष्य, गन्धर्व आदि विभिन्न भाषाभाषी सत्त्व उसे अपनी-अपनी भाषा में सुनकर अर्थ का अवबोध करते हैं । ये सब बुद्ध के वाक्-गुण हैं ।

चित्तगुण—बुद्धों के गुण दो प्रकार के होते हैं, यथा— १. ज्ञानगत तथा २. करुणागत । पहले कहा गया है कि ज्ञानधर्मकाय में २१ अनास्रव ज्ञानवर्ग होते हैं । उनमें से कुछ गुण साधारण होते हैं, अर्थात् वे श्रावक और प्रत्येकबुद्ध में भी होते हैं । कुछ गुण असाधारण होते हैं, जो केवल बुद्ध में ही होते हैं । यहाँ साधारण वर्ग को छोड़कर असाधारण वर्ग का वर्णन किया जा रहा है ।

दशबल—ये १० प्रकार के ज्ञान हैं । इन्हें 'बल' इसलिए कहते हैं; क्योंकि ये अपने-अपने विषय के ग्रहण में अन्य ज्ञानों से अधिक शक्तिशाली होते हैं । ये १० होते हैं—

१—**स्थानास्थानज्ञान**—जिस हेतु से जो कार्य निश्चित रूप से उत्पन्न होता है, उसे 'स्थान' कहते हैं; इससे विपरीत को 'अस्थान' कहते हैं । इस ज्ञान द्वारा बुद्ध स्थान और अस्थानों को जानते हैं, इसलिए इस ज्ञान को 'स्थानास्थानज्ञान' कहते हैं ।

२—**कर्मविपाकज्ञान**—इस ज्ञान द्वारा बुद्ध संसार के विविध सत्त्वों के अनेक जन्मों के कुशल, अकुशल आदि नानाविध कर्मों और उनके फलों को जानते हैं ।

३—ध्यान-विमोक्ष आदि ज्ञान—इस ज्ञान द्वारा बुद्ध ४ रूपी ध्यान, ४ अरूपी ध्यान तथा ८ विमोक्षों को विषय बनाकर उनके सभी सूक्ष्मातिसूक्ष्म प्रभेदों को जानते हैं तथा यह ज्ञान स्वयं भी ध्यान-विमोक्षस्वरूप है ।

४—इन्द्रियपरापरज्ञान—इस ज्ञान द्वारा बुद्ध समस्त विनेय जनों की तीक्ष्ण (पर), मध्य और मन्द (अपर) इन्द्रियों को जानते हैं ।

५—नानाधिमुक्तिज्ञान—राग, द्वेष आदि के वश से विनेय जनों की नाना प्रकार की रुचि होती है । तथागत इस ज्ञान द्वारा विनेय जनों की उन समस्त रुचियों को जानते हैं ।

६—अष्टादशधातुप्रभेदादिज्ञान—चक्षु आदि ६ आश्रयधातु, चक्षुर्विज्ञान आदि ६ आश्रित धातु तथा रूप आदि ६ आलम्बन धातु—ये १८ धातुएँ हैं । इस ज्ञान द्वारा बुद्ध इन धातुओं के समस्त भेदों को जानते हैं ।

७—भव-शमसर्वत्रगामिनी-प्रतिपद्-ज्ञान—अपायभूमि से लेकर भवाग्रभूमि तक समस्त जड़-चेतन को 'भव' कहते हैं । भव से उत्तर श्रावक और बोधिसत्त्व के मोक्ष (निर्वाण) को 'शम' कहते हैं । इन भव और शम से सम्बद्ध सभी विषयों में बुद्ध के इस ज्ञान की अप्रतिहत गति होती है, अतः इसे 'भव-शम सर्वत्रगामिनी प्रतिपद् ज्ञान' कहते हैं ।

८—पूर्वनिवासानुस्मृतिज्ञान—इस ज्ञान द्वारा तथागत अपने और संसार के समस्त सत्त्वों के समस्त पूर्वजन्मों को युगपत् जानते हैं ।

९—च्युत्युपपत्तिज्ञान—इस ज्ञान द्वारा तथागत समस्त जीवों के मरण, उत्पाद और उनसे सम्बद्ध सभी विषयों को जानते हैं ।

१०—आस्रवक्षयज्ञान—बुद्ध समस्त क्लेशावरण और ज्ञेयावरणों से रहित हैं । अतः वे जिस प्रकार अपने चित्त में स्थित आस्रवक्षय

को जानते हैं, उसी प्रकार श्रावक आदि अन्य आर्यों के चित्त में स्थित आस्रवक्षय को जानते हैं तथा भविष्य में होनेवाले आस्रवों के क्षय को भी जानते हैं ।

चतुर्वैशारद्य—निर्भयता को 'वैशारद्य' कहते हैं । बुद्ध को उपदेश देते समय या कायिक, वाचिक आदि कर्म करते समय किसी प्रकार का भय या सङ्कोच नहीं होता, अतः उन्हें 'वैशारद्य प्राप्त' कहते हैं । बुद्ध की चार प्रतिज्ञाएँ हैं । इन प्रज्ञिाओं की स्थापना में उन्हें किसी प्रकार का भय नहीं होता । अतः इन ४ प्रतिज्ञाओं की दृष्टि से ४ प्रकार के वैशारद्य कहे गये हैं :

१—सर्वधर्माभिसम्बोधिप्रतिज्ञा-वैशारद्य—'मैने सभी धर्मों को प्रत्यक्षतः जान लिया है'—यह बुद्ध की प्रतिज्ञा है । अपने द्वारा प्राप्त ज्ञानसम्पत्ति से सम्बद्ध इस प्रतिज्ञा के विषय में उन्हें किसी भी वादी की युक्तियुक्त बाधा का भय नहीं है ।

२—सर्वास्रवक्षयज्ञानप्रतिज्ञा-वैशारद्य—'मैने सभी प्रकार के आवरणों का क्षय प्राप्त कर लिया है'—यह बुद्ध की प्रतिज्ञा है । अपने द्वारा प्राप्त निरोधसम्पत्ति से सम्बद्ध इस प्रतिज्ञा की स्थापना में उन्हें किसी भी वादी की युक्तियुक्त बाधा का भय नहीं है ।

३—अन्तरायिकधर्मव्याकरणप्रतिज्ञा-वैशारद्य—'राग-आदि धर्म मोक्ष के अन्तराय (विघ्न) हैं'—यह बुद्ध की प्रतिज्ञा है । विनेय जनों के कल्याण के लिए अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार वे व्याख्यान करते हैं । अपनी इस प्रतिज्ञा की स्थापना में उन्हें किसी भी वादी की युक्तियुक्त बाधा का भय नहीं है ।

४—नैर्याणिकप्रतिपद्व्याकरणप्रतिज्ञा-वैशारद्य—'चार आर्य-सत्यों का यथार्थ ज्ञान विमुक्ति (मोक्ष) का मार्ग है'—यह बुद्ध की प्रतिज्ञा है । विनेय जनों के कल्याण के लिए अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार वे इस मार्ग का व्याख्यान करते हैं । अपनी इस प्रतिज्ञा की स्थापना में उन्हें किसी भी वादी की युक्तियुक्त बाधा का भय नहीं है ।

तीन असम्भिन्न स्मृत्युपस्थान—असभिन्न से तात्पर्य अमिश्रित से है । स्मृत्युपस्थान की भावना श्रावक आदि यानों में भी की जाती है; किन्तु यह उससे भिन्न है । उपदेश देते समय श्रद्धापूर्वक सुननेवालों अथवा न सुननेवालों—सभी प्रकार के पुद्गलों के प्रति समचित्तता का सर्वदा स्मरण रहना 'असभिन्न स्मृत्युपस्थान' है । ये तीन होते हैं—

१—सुश्रूषमाणेषु समचित्तता —बुद्ध धर्मोपदेश करते समय श्रद्धापूर्वक सुननेवाले अपने शिष्यों के प्रति राग-चित्त न होकर समचित्त होते हैं । इसे ही 'सुश्रूषमाणेषु समचित्तता, कहते हैं ।

२—असुश्रूषमाणेषु समचित्तता—बुद्ध धर्मोपदेश करते समय आदरपूर्वक न सुननेवालों के प्रति द्वेषचित्त न होकर समचित्त ही रहते हैं । इसे ही 'असुश्रूषमाणेषु समचित्तता' कहते हैं ।

३—सुश्रूषमाणासुश्रूषमाणेषु समचित्तता—बुद्ध धर्मोपदेश करते समय आदरपूर्वक और अनादरपूर्वक मिश्रितरूप से सुननेवाले सत्त्वों के प्रति राग और द्वेष से रहित होकर समचित्तता के साथ धर्मोपदेश करते हैं । यही 'सुश्रूषमाणासुश्रूषमाणेषु समचित्तता' है ।

तीन अगुप्त—बुद्ध को कायद्वार, वाग्द्वार और मनोद्वार से होनेवाले किसी भी प्रकार के दोष (पाप) किञ्चित् भी नहीं होते । इसलिए उनको 'दूसरे जान न लें'—इस भय से कायिक, वाचिक या मानसिक किसी भी प्रकार के दोष को छिपाने का विकल्प कभी उत्पन्न नहीं होता । इन्हें ही 'तीन अगुप्त' कहते हैं ।

नास्ति मुषिता—जिस विनेय जन का जिस काल में, जिस स्थान में दमन करने का अवसर होता है, बुद्ध को उसका सर्वदा स्मरण रहता है तथा उचित अवसर पर उनके काय एवं वाक् के कर्म प्रवृत्त होते हैं । इसे ही 'नास्ति मुषिता' कहते हैं ।

सम्यक्प्रतिहतवासनत्व—बुद्ध के चित्त से समस्त क्लेशावरण एवं ज्ञेयावरणों की वासनाएँ सम्यक् प्रकार से प्रहीण हो चुकी हैं । इसे ही 'सम्यक्प्रतिहतवासनत्व' कहते हैं ।

महाकरुणा—बुद्धों का सर्वदा यही अभिप्राय रहता है कि मैं किसी का दमन करूँ, किसे सन्मार्ग में प्रतिष्ठित करूँ-इस प्रकार लगातार सत्त्वों के कल्याण करने का आशय 'महाकरुणा' है ।

अष्टादश आवेणिक गुण—आवेणिक का अर्थ अमिश्रित है । श्रावक, प्रत्येकबुद्ध आदि से अमिश्रित गुण 'आवेणिक गुण' कहे जाते हैं । ये १८ होते हैं, इनमें से ६ चर्यागत, ६ बोधिगत, ३ कर्मगत और ३ ज्ञानगत होते हैं ।

१—नास्ति तथागतस्य स्खलितम्—ग्राम, नगर, अरण्य आदि में चर्या करते समय डाकू, चोर, व्याघ्र आदि से बुद्ध का भयभीत न होना—इसका अर्थ है ।

२—नास्ति रवितम्—चारिका करते समय बुद्ध कभी मार्ग नहीं भूलते तथा वासना के वश से कभी नहीं हँसते, अतः मार्ग भूल जाने से चिल्लाना, कोलाहल करना एवं हँसी के स्वर से रहित होना—इसका अर्थ है ।

३—नास्ति मुषितस्मृतिता—जिन कार्यों को जिस समय, जिस स्थान पर करना है, बुद्ध उन्हें कभी नहीं भूलते तथा उनका सम्पादन करने में विलम्ब भी नहीं करते । अतः सभी कार्यों को न भूलते हुए यथासमय शीघ्र सम्पादित कर देना—इसका अर्थ है ।

४—नास्ति असमाहितचित्तम्—बुद्ध चाहे ध्यानस्थ हों, चाहे न हों, उनका चित्त सर्वदा शून्यता में समाहित रहता है । इसे 'नास्ति असमाहितचित्तम्' कहते हैं ।

५—नास्ति नानात्वसंज्ञा—बुद्ध संसार की विपर्यस्तता को तथा निर्वाण की शान्तता को सत्यतः ग्रहण नहीं करते । इसलिए उनमें संसार और निर्वाण में भिन्नता की संज्ञा नहीं है । इसे ही 'नास्ति नानात्वसंज्ञा' कहते हैं ।

६—नास्ति अप्रतिसंख्योपेक्षा—बुद्ध दमन करने के काल, स्थान आदि पर विचार करके ही सत्त्व की उपेक्षा करते हैं । दमन

करने के काल, स्थान आदि पर बिना विचार किये कभी उपेक्षा नहीं करते, इसे ही 'नास्ति अप्रतिसंख्योपेक्षा' कहते हैं ।

उपर्युक्त ६ गुण चर्यागत आवेणिक गुण कहे जाते हैं ।

७—**नास्ति छन्दहानिः**—बुद्ध संसार के समस्त दुःखी सत्त्वों के ऊपर निरन्तर मैत्री, करुणा आदि की वर्षा करते रहना चाहते हैं । इस गुण के कारण उनकी इस रुचि (इच्छा) का कभी भी क्षय नहीं होता ।

८—**नास्ति वीर्यहानिः**—बुद्ध के क्षेत्र अनन्त हैं । जैसे गंगा के बालुका-कणों की गणना नहीं की जा सकती, वैसे ही बुद्धक्षेत्रों की भी गणना नहीं की जा सकती । बुद्ध में सत्त्वों का कल्याण करने का इतना ज्यादा उत्साह होता है कि यदि एक सत्त्व के कल्याण के लिए इतने बुद्ध क्षेत्रों में भी जाना पड़े तो भी इस गुण के कारण उनमें उत्साह की कमी नहीं होती ।

९—**नास्ति स्मृतिहानिः**—सभी जीवों के चित्तों की क्रियाएँ और उनके दमन करने के उपाय बुद्ध को सर्वदा स्मृत रहते हैं । इस गुण के कारण उनके इस स्मरण का कभी क्षय नहीं होता ।

१०—**नास्ति समाधिहानिः**—बुद्ध सभी धर्मों के तत्त्व (शून्यता) में सर्वदा समाहित रहते हैं । इस गुण के कारण वे इस समाधि से कभी विचलित नहीं होते ।

११—**नास्ति प्रज्ञाहानिः**—जीवों में अनेकविध क्लेश होते हैं । उन क्लेशों का दमन करने के लिए भगवान् बुद्ध उनके प्रतिपक्ष (विरोधी) ८४००० धर्मस्कन्धों का विवेचन करते हुए उपदेश करते हैं । इस गुण के कारण ८४००० धर्मस्कन्धों का विवेचन करने की उनकी प्रज्ञा का कभी क्षय नहीं होता ।

१२—**नास्ति विमुक्तिहानिः**—बुद्ध को एक विमुक्तिमार्ग प्राप्त है, जिसमें सभी आवरणों का क्षय विद्यमान रहता है । बुद्ध इस विमुक्ति से कभी भी च्युत नहीं होते ।

उपर्युक्त ये ६ गुण बोधिगत आवेणिक गुण हैं ।

१३—कायकर्म—अपने काय से रश्मिसमूह विकीर्ण करना तथा ४ ईर्यापथ आदि बुद्ध के कायकर्म हैं ।

१४—वाक्कर्म—संसार के नानाविध सत्त्वों की रुचि जानकर उनके आशय के अनुसार धर्मोपदेश करना आदि बुद्ध के वाक्-कर्म हैं ।

१५—चित्तकर्म—मैत्री एवं करुणा से युक्त चित्त की क्रिया आदि बुद्ध के चित्तकर्म हैं ।

उपर्युक्त ये ३ गुण कर्मगत आवेणिक गुण हैं ।

१६-१८—अतीत, अनागत, प्रत्युत्पन्न (वर्तमान) सभी धर्मों को बुद्ध आसक्तिरहित होकर अप्रतिहतरूप से जानते हैं । अर्थात् उन धर्मों में बुद्ध की आसक्ति नहीं होती तथा उन धर्मों को जानने में उनके ज्ञान की गति प्रतिहत नहीं होती ।

सर्वज्ञ ज्ञान—'सर्व' का अभिप्राय स्कन्ध, आयतन एवं धातु के अन्तर्गत आनेवाले सभी धर्मों से है । इनके अतिरिक्त कोई धर्म अवशिष्ट नहीं रहता । बुद्ध इन सबको प्रत्यक्षतः जानते हैं । अर्थात् विकल्परहित बुद्धि से जानते हैं । वे इन धर्मों को युगपत् (एक काल में) और सर्वदा जानते रहते हैं । इस प्रकार के गुणों से युक्त बुद्ध के ज्ञान को 'सर्वज्ञ ज्ञान' कहते हैं ।

बुद्धों के ज्ञानगत गुण अनन्त और अद्‌भुत होते हैं । उन सबका यथार्थ वर्णन करना अत्यन्त दुष्कर है ।

पहले कहा गया है कि चित्तगुण दो प्रकार के होते हैं; यथा-ज्ञानगत और करुणागत । ज्ञानगत गुणों का वर्णन किया जा चुका है । अब हम यहाँ बुद्ध के करुणागत चित्तगुणों का संक्षेप से वर्णन प्रस्तुत कर रहे हैं ।

सम्भारमार्ग से लेकर भावनामार्ग की वज्रोपम समाधि तक के सभी मार्ग 'शैक्षमार्ग' कहलाते हैं; क्योंकि उस अवस्था में उत्तरोत्तर

विकास करने के लिए बोधिसत्त्व को शिक्षा की आवश्यकता होती है । इस शैक्षमार्ग की अवस्था में बोधिसत्त्व महाकरुणा का पुनः पुनः अभ्यास करते हैं, जिससे महाकरुणा की क्रमशः वृद्धि होती रहती है । महाकरुणा जब अपने विकास की अन्तिम अवस्था में पहुँच जाती है, उस अवस्था में बुद्धत्व की प्राप्ति होती है । इसलिए भगवान् बुद्ध महाकारुणिक कहे जाते हैं । यही अशैक्ष अवस्था है; क्योंकि अब आगे विकास के लिए शिक्षा की आवश्यकता नहीं है । इस अवस्था में दुःखी सत्त्वों को देखकर महाकरुणा स्वभावतः प्रवृत्त होने लगती है । अर्थात् महाकरुणा की प्रवृत्ति के लिए किसी प्रकार के प्रयास की आवश्यकता नहीं होती । संसार में विविध दुःखों से पीड़ित जीव असंख्य हैं । जैसे आकाश की कोई सीमा नहीं है, वैसे दुःखी जीवों की सीमा का भी अन्त नहीं है । ये दुःखी सत्त्व सभी कालों में विद्यमान रहते हैं । भगवान् बुद्ध इन सभी सत्त्वों को सर्वदा जानते रहते हैं और ये सत्त्व उनकी स्मृति में सदा बने रहते हैं । इन समस्त दुःखी सत्त्वों को आलम्बन बनाकर बुद्ध की महाकरुणा अजस्र (सर्वदा) प्रवाहित होती रहती है । महाकरुणा के इस अजस्र (सतत) प्रवाह से जगत् का कल्याण भी अविच्छिन्नरूप से (बिना रुके) होता रहता है ।

पहले कहा गया है कि बुद्ध के गुण अनन्त हैं । उनका चार भागों में विभाग किया जाता है—कायगुण, वाक्-गुण, चित्तगुण एवं कर्मगुण । पहले तीन गुणों का वर्णन किया जा चुका है । अब हम यहाँ उनके कर्मगुणों का संक्षेप से वर्णन कर रहे हैं ।

कर्मगुण—बुद्धकर्मों की उत्कृष्ट विशेषताओं को 'कर्मगुण' कहते है । ये दो प्रकार के होते हैं,—निराभोग कर्म एवं अविच्छिन्न कर्म ।

निराभोग कर्म—निराभोग का तात्पर्य निष्प्रयत्न से है । अर्थात् जो कर्म बिना प्रयत्न के स्वभावतः प्रवृत्त होते हैं, उन्हें 'निराभोग कर्म' कहते हैं । यद्यपि बुद्ध ४ ईर्यापथ एवं प्रातिहार्यों द्वारा विविध लीला करते हैं; तथापि उनमें इन कर्मों को प्रेरित करनेवाला प्रयत्न-विकल्प नहीं होता; फिर भी सौभाग्यशाली विनेयजनों में उन ईर्यापथों और प्रातिहार्यों को देखकर बोधिचित्त उत्पन्न हो जाता है और वे षड्पारमिताओं की पूर्ति में प्रवृत्त हो जाते हैं—यही इन निराभोग

कायकर्मों की विशेषता है । अर्थात् इन कर्मों के पीछे किसी प्रकार का संङ्कल्प नहीं होता, ये स्वभावतः प्रवृत्त होते रहते हैं; फिर भी इनसे विनेय जनों का कल्याण सिद्ध होता रहता है ।

तथागत के चित्त में 'मैं अमुक जन को अमुक उपदेश करूँगा'—इस प्रकार का विकल्प नहीं होता; फिर भी विनेय जनों के आशय (रुचि) के अनुसार अनन्त देशनाएँ (उपदेश) उनकी वाणी से स्वभावतः निःसृत होती रहती है—यही उनके निराभोग वाक्-कर्म की विशेषता है ।

बुद्ध को जगत् का कल्याण करने की प्रेरणा देनेवाला कोई विकल्प नहीं होता; फिर भी वे महाकरुणा के कारण विनेय जनों के चित्त में अभ्युदय एवं निःश्रेयस को सिद्ध करनेवाले कुशलमूलों को स्थापित कर देते हैं । इससे जगत् के समस्त ऐहिक और पारलौकिक उद्देश्य अनायास निष्पन्न होते रहते हैं—यही बुद्ध के निराभोग चित्तकर्म की विशेषता है ।

ज्ञातव्य है कि साधारण जन जब कोई कायकर्म या वाक्-कर्म करते हैं, तब उनमें उन कर्मों से पूर्व उन कर्मों को प्रेरित करनेवाला एक प्रकार का विकल्प अवश्य होता है । बिना विकल्प के उनका कोई भी कर्म प्रवृत्त नहीं होता । साधना की अवस्था में जैसे-जैसे उत्तरोत्तर श्रेष्ठ भूमियाँ प्राप्त होती जाती हैं, वैसे-वैसे विकल्प भी कम होते जाते हैं; फिर भी आठवीं भूमि तक कर्मों की प्रायः यही स्थिति रहती है । अर्थात् आठवीं भूमिपर्यन्त होनेवाले कर्म बिना विकल्प के प्रवृत्त नहीं होते । आठवीं भूमि से लेकर १०वीं भूमि तक धर्मोपदेश आदि कर्म करते समय उन कर्मों को प्रेरित करनेवाले स्थूल प्रयत्न विकल्प सर्वथा शान्त हो जाते हैं । इस कारण इस अवस्था में जगत् का कल्याण स्वाभाविकरूप से (अनायास) सिद्ध होने लगता है; फिर भी इस अवस्था में काय एवं वाक् कर्मों को प्रेरित करनेवाला सूक्ष्मविकल्प अवशिष्ट रह जाता है, जिसके कारण इस अवस्था में किये जानेवाले कर्म 'निराभोग कर्म' नहीं कहे जा सकते । द्वादशाङ्ग प्रतीत्यसमुत्पाद द्विविध होता है—एक क्लेशावरण के पक्ष में होनेवाला तथा दूसरा ज्ञेयावरण के पक्ष में होनेवाला । क्लेशावरण के पक्ष में होनेवाले प्रतीत्यसमुत्पाद की वजह से पुद्गल का सास्रव (क्लिष्ट) जन्म

होता रहता है । इसका प्रहाण अर्हत् की अवस्था में हो जाता है या बोधिसत्त्व इसका आठवीं भूमि में प्रहाण कर देता है; फिर भी ज्ञेयावरण के पक्ष में होनेवाला प्रतीत्यसमुत्पाद अभी अवशिष्ट रह जाता है । क्योंकि यह क्लिष्ट नहीं होता, अतः इसकी वजह से बोधिसत्त्व अनास्रव (अक्लिष्ट) जन्म ग्रहण करता रहता है । इसका सर्वथा प्रहाण १०वीं भूमि की अन्तिम अवस्था में होनेवाली वज्रोपमसमाधि द्वारा होता है । ८वीं भूमि से १०वीं भूमि की अवस्था के बीच में यह ज्ञेयावरणपाक्षिक द्वादशाङ्ग प्रतीत्यसमुत्पाद अवशिष्ट रहता है । यह अत्यन्त सूक्ष्म और अनास्रव है । यह कायिक और वाचिक संस्कारों का प्रेरक विकल्प है । इसकी वजह से इस (८वीं से १०वीं भूमि तक की) अवस्था में किये जानेवाले कर्म निराभोग कर्म नहीं हो पाते । यह निराभोग कर्म का सूक्ष्म विघ्न है । जब इसका प्रहाण हो जाता है, तब निराभोग कर्म की प्रवृत्ति होने लगती है ।

अविच्छिन्न कर्म—बुद्ध के कर्म बिना बीच में रुके सर्वदा लगातार प्रवृत्त होते रहते हैं, अतः उन्हें 'अविच्छिन्न कर्म' कहते हैं । सम्भार दो प्रकार के होते हैं—पुण्यसम्भार और ज्ञानसम्भार । प्रज्ञापारमिता को छोड़कर अवशिष्ट पारमिताएँ 'पुण्यसम्भार' हैं । इससे मुख्यतः बुद्ध के रूपी कायों की सिद्धि होती है । प्रज्ञापारमिता 'ज्ञानसम्भार' है, इससे मुख्यतः धर्मकाय सिद्ध होता है । बोधिसत्त्व मार्ग की अवस्था में १० भूमियों को क्रमशः पार करता हुआ इन द्विविध सम्भारों का सञ्चय करता है तथा उत्तरोत्तर इन सम्भारों में वृद्धि करता रहता है । इन द्विविध सम्भारों के परिपूर्ण हो जाने पर बुद्ध के कर्म अविच्छिन्नरूप से प्रवृत्त होने लगते हैं । जीवों के चित्त की निःस्वभावता को 'चित्तधातु' कहते हैं । उसका स्वभाव समल नहीं है । इसलिए यह चित्तधातु 'तथागतगर्भ' कहलाती है । यह (तथागतगर्भ) क्लेशों एवं उनकी वासनाओं द्वारा ढका हुआ है । ये आवृत करनेवाले क्लेश आदि आगन्तुक मल हैं, इसलिए इनका निरवशेष प्रहाण सम्भव है । इनके प्रहाण का एकमात्र उपाय बुद्धों की महाकरुणा है । इस महाकरुणा के वश से भगवान् बुद्ध जीवों को आगन्तुक मलों से विमुक्त होने का उपाय दिखलाते हैं । इस महाकरुणा के कारण भी बुद्ध के कर्म अविच्छिन्न रूप से प्रवृत्त होते हैं ।

पूर्वोक्त द्विविध सम्भारों की परिपूर्णता और यह महाकरुणा—ये ही दो वे प्रधान कारण हैं, जिनकी वजह से बुद्धों के कर्म अविच्छिन्न रूप से प्रवृत्त होते रहते हैं ।

इस तरह दो मूल सत्यों की स्थापना, तीन अधिशिक्षाओं का व्याख्यान करनेवाले तीन पिटक, उन तीनों पिटकों के अभिधेय उपाय और प्रज्ञा, तीन अधिशिक्षाओं की भावना द्वारा हीनयान और महायान मार्ग में गमन तथा फलरूपी बुद्ध के कर्मसहित चार काय—इत्यादि विषयों का संक्षिप्त प्रतिपादन यहाँ समाप्त होता है ।

•

तिब्बत में बौद्धधर्म के विकास

का

इतिहास

तिब्बत में बौद्धधर्म के विकास का इतिहास

तिब्बत (भोट) देश में सर्वत्र भगवान् बुद्ध द्वारा उपदिष्ट श्रेष्ठ धर्म का अनुगमन किया जाता है । बौद्ध-सिद्धान्तों को माननेवाले तिब्बतियों के बारे में विदेशों में अनेक प्रकार की भ्रान्त धारणाएँ फैली हुई हैं । इसलिए हम यहाँ तिब्बत में बौद्ध-धर्म के विकास का प्रामाणिक इतिहास संक्षेप में प्रस्तुत करना आवश्यक समझते हैं ।

तिब्बत देश तीन बड़े क्षेत्रों में विभक्त है । जो तीन छोलखा नाम से विख्यात हैं । उन तीनों क्षेत्रों में एक भी ऐसा स्थान प्राप्त न होगा, जहाँ बौद्ध-धर्म व्याप्त न हो । कहने का आशय यह कि पूरे तिब्बत में सर्वत्र भगवान् बुद्ध का धर्म सूर्य की भाँति प्रकाशित है ।

तिब्बत के बौद्ध-धर्म का इतिहास काल की दृष्टि से दो भागों में विभक्त किया जाता है । पूर्वकालीन विकास को 'पूर्वोदय शासन' तथा पश्चात्कालीन विकास को 'परोदय शासन' कहते हैं ।

(क) पूर्वोदय शासन

भोट देश के ३२वें शासक महाराज स्रोङ्चन गम्पो[१] थे । इन्होंने १३ वर्ष की अवस्था में राज्य ग्रहण किया था । ये बड़े धार्मिक शासक थे । इनके काल में ही बौद्ध-धर्म सर्वप्रथम तिब्बत में गया । इन्होंने अनेक विशाल विहारों का निर्माण कराया, जिनमें ल्हासा के विहार ठाडुग[२] आदि थादुल[३] (प्रत्यन्तदमन), यङ्दुल[४]

---

१. स्रोड्ब्चन् साम्पो ।

२. ख्र अ्ब्रुग् ।

३. म्थअ् अ्दुल् ।

४. यड् अदुल् ।

(उपदमन) तथा रूनोन[१] (कोणदमन) आदि विहार अत्यन्त प्रसिद्ध हैं । इन्होंने अपने मन्त्री थोनमि सम्भोट को भारत भेजा, जिन्होंने भारत आकर लिपि और व्याकरण की शिक्षा ग्रहण की तथा तिब्बत लौटकर भारतीय लिपि और व्याकरण के आधार पर भोटलिपि और अष्टाङ्ग व्याकरण का निर्माण किया । इन्हीं सम्राट् स्रोङ्चन गम्पो ने भारत के अनेक विद्वानों को तिब्बत आने के लिए निमन्त्रित किया । उनका निमन्त्रण पाकर अनेक भारतीय विद्वान् तिब्बत गये, जिनमें आचार्य कुमार, ब्राह्मण शंकर और नेपाल के आचार्य शीलमञ्जु प्रसिद्ध हैं । इन पण्डितों ने तिब्बत जाकर कुछ बुद्धवचन सूत्र और तन्त्र का तिब्बती भाषा में अनुवाद कर वहाँ बौद्ध-धर्म का सूत्रपात किया । यद्यपि उस समय धर्म का अधिक विस्तारपूर्वक श्रवण और व्याख्यान तो न हो सका; फिर भी सम्राट् ने अनेक सौभाग्यशाली सज्जनों को, प्रधानतः महाकारुणिक (अवलोकितेश्वर) के धर्म का उपदेश किया ।

सम्राट् स्रोङ्चन गम्पो के कुछ काल बाद तिब्बत के ३७वें राजा ठीसोङ्देचन[२] हुए । ये बड़े धार्मिक प्रवृत्ति के शासक थे । इनके मन में बौद्ध-धर्म के विकास की अत्यन्त तीव्र इच्छा हुई । इनका निमन्त्रण पाकर पूर्वी भारत के 'साहोर' नामक स्थान के उपाध्याय शान्तरक्षित और आचार्य पद्मसम्भव तिब्बत गये । इनके अतिरिक्त और भी भारतीय पण्डित—जिनमें आचार्य विमलमित्र, शान्तिगर्भ, धर्मकीर्ति, बुद्धगुह्य, कमलशील, विबुद्धसिद्ध आदि प्रमुख हैं—तिब्बत गये । ये पण्डित तिब्बत में '१०८ महापण्डित' नाम से प्रसिद्ध हैं । इन पण्डितों ने तथा तिब्बत के लोचवा (लोकचक्षु=अनुवादक) विद्वानों ने—जिनमें वैरोचन, ञक[3] ज्ञानकुमार, कावपल चेक[4] (श्रीकूट), चोगरो लुयी ग्यलछन[5] (नागध्वज) और शङ् येसेस् दे[6] (ज्ञानसेन) आदि प्रमुख हैं—साथ मिलकर विनय, सूत्र और अभिधर्म नामक विभिन्न सूत्र

१. रु ग्नोन् ।
२. ख्री स्रोङ् ल्दे ब्चन् ।
३. ग्ञग्स्0 ।
४. स्क वा द्पल् बचेग्स् ।
५. क्लुई ग्र्यल् म्छन् ।
६. शङ् येशेस् स्दे ।

और तन्त्रात्मक बुद्धवचनों का तथा उनके निर्मोचनों (टीकाओं) में से प्रधान टीकाओं का तिब्बत भाषा में अनुवाद किया । साथ ही इन पण्डितों नें धार्मिक व्याख्यानों और साधना की शिक्षा के लिए बड़े-बड़े विद्यालय बनवाए ।

सम्राट् ठीसोङ्देचन के कुछ काल बाद तिब्बत के ४१वें राजा ठीरलपाचन[१] हुए । इन्होंने एक-एक प्रव्रजित के लिए अर्थात् उनके भरण-पोषण एवं सेवा-सुश्रूषा के लिए ७-७ परिवार नियुक्त किये तथा एक हजार से अधिक विहार स्थापित किये । ये इतने बड़े श्रद्धावान् थे कि इन्होंने अपने सिर पर बँधे दो साफों के दो छोरों पर अपने आचार्य और गुरु को बैठाकर उनकी पूजा और वन्दना की तथा उनका हार्दिक सत्कार किया । इस तरह इन्होंने जिनशासन (धर्म)-रत्न की उपासना का महान् कार्य किया । इन्होंने भारत के अनेक विद्वानों को तिब्बत आने के लिए निमन्त्रित किया । इनका निमन्त्रण पाकर अनेक प्रसिद्ध भारतीय विद्वान् तिब्बत गये, जिनमें उपाध्याय आचार्य जिनमित्र, सुरेन्द्रबोधि, शीलेन्द्रबोधि और दानशील आदि प्रमुख हैं । राजा ने भोट उपाध्याय रत्नरक्षित, धर्मताशील, लोचवा ज्ञानसेन और जयरक्षित आदि विद्वानों को ऐसी आज्ञा प्रदान की कि "प्राचीन राजाओं के काल में लोचवा और पण्डितों द्वारा अनुवाद करते समय जिन भोट भाषा में अप्रसिद्ध कुछ नामों का अनुवाद नहीं किया जा सका तथा अनूदित शब्दों में भी जिनके अर्थ दुरवबोध हो गये हैं, उनका संशोधन करके हीनयान और महायान साहित्य का पुनः संशोधन किया जाए' । इन पण्डितों ने भी राजा की आज्ञा शिरोधार्य कर पूर्व अनूदित महामाता (जिनजननी प्रज्ञापारमिता) का पुनः संशोधन कर १६ पोथियों में निर्माण किया । इसी प्रकार अन्य प्राचीन अनूदित प्रवचनों (बुद्धवचनों) का प्रायः नवीन भाषा मे संस्करण करके हिममण्डित भोटराष्ट्र में बौद्धशासन (धर्म)-रत्न की उत्तरोत्तर वृद्धि एवं विकास किया ।

अब तक विकसित जिनशासन 'पूर्वोदय शासन' कहलाता है ।

---

१. ख्री रल् पा चन् ।

(ख) परोदय शासन

सम्राट् ठीसोङ् देचन के बाद तिब्बत के ४२वें शासक लङ्दर्मा[1] हुए । ये बड़े ही अधार्मिक राजा थे । बौद्ध धर्म के लिए ये बड़े अहितकारी हुए । इन्होंने बहुत अत्याचार किया । इनके काल में बौद्ध धर्म प्रायः लुप्त हो गया । इनके भय से महोपाध्याय शान्तरक्षित की परम्परा के तीन शिष्य भागकर दोमद्[2] (खम का एक प्रदेश) चले गये । जिनका नाम मर शाक्या,[3] यो गे जुङ्[4] और चङ् रब सल[5] था । वहाँ जाकर इन्होंने आचार्य लाछेन गोङ्पा रबसल के सान्निध्य में उपसम्पदा ग्रहण की । इनके बाद भोटदेश में क्रमशः प्रव्रजित भिक्षुओं की संख्या बढ़ने लगी । इसके अतिरिक्त पूर्वी भारत के पण्डित धर्मपाल और साधुपाल आदि भी ङारीस्तोद[4] (तिब्बत की पश्चिमी सीमा) से मध्य तिब्बत पहँचे । फलतः इन पण्डितों द्वारा प्रवर्तित शिक्षापरम्परा के अनुयायी तथा काश्मीरी महापण्डित शाक्यश्री द्वारा प्रवर्तित शिक्षापरम्परा के अनुयायी प्रव्रजित भिक्षुओं की संख्या अत्यधिक बढ़ने लगी और तिब्बत में बौद्धधर्म का पुनः जागरण प्रारम्भ हुआ ।

तब से लेकर आज तक अनेक भारतीय मनीषी तिब्बत पहुँचे । भोटदेशीय अनेक लोचवा विद्वान् भी अनेक कठिनाइयाँ और मुसीबतें झेलकर भारत और नेपाल पहुँचे । वहाँ पहुँचकर उन्होंने तत्कालीन प्रमुख पण्डितों और सिद्धों के चरणों में विपुल स्वर्णराशि दान के रूप में अर्पित करके उनसे विभिन्न सौत्र (सूत्रसम्बन्धी) और तान्त्रिक धर्मों का श्रवण किया तथा तिब्बत लौटकर उनका भोटभाषा में अनुवाद करके प्रचार किया । उन लोगों की परम्परा में क्रमशः अनेक पण्डित और सिद्ध उत्पन्न हुए, जिनके द्वारा-मुनिशासन (धर्म)-रत्न का पहले जो ह्रास हो गया था, उसकी पूर्ति की गई ।

---

१. ग्लङ् दर् मा ।
२. म्दो स्मद् ।
३. द्मर शाक्या ।
४. ग्योद्गे अब्युङ् ।
५. ग्चङ् रब् ग्सल् ।

इन लोगों के प्रयास से सम्पूर्ण भोटदेश में सूर्योदय की भाँति बौद्धधर्म पुनः प्रतिष्ठित हुआ ।

तब से लेकर अब तक विकसित जिन शासन 'परोदय शासन' कहलाता है ।

(ग) विभिन्न बौद्ध सम्प्रदाय

तिब्बत में बौद्ध धर्म के अनेक सम्प्रदाय हैं । उनमें से कुछ के नाम काल की दृष्टि से, कुछ के नाम स्थान की दृष्टि से, कुछ के नाम उपदेश की दृष्टि से तथा कुछ के नाम प्रवर्तक आचार्यों की दृष्टि से हैं । जैसे—ञीङ्म पा (प्राचीन)—यह नाम काल की दृष्टि से है । साक्य पा, तगलुङ् पा, डीगुङ् पा, डुग पा एवं गेदन—ये नाम स्थान की दृष्टि से हैं । कर्म काग्युद्पा तथा बुलुकपा—ये नाम प्रवर्तक आचार्यों की दृष्टि से हैं, तथा कादम्पा, जोगछेनपा, छगछेनपा और शीजेद्पा—ये नाम उपदेश की दृष्टि से हैं । इन सभी सम्प्रदायों का अन्तर्भाव ञीङ्म पा और सरमा पा (नवीन)—इन दो भेदों में किया जा सकता है ।

ञीङ्म पा एवं सरमा पा का भेद—भोट देश में विकसित महायान बौद्ध धर्म दो प्रकार का है, यथा—सूत्रानुयायी (सौत्र) और तन्त्रानुयायी (तान्त्रिक) । ञीङ्म पा और सरमा पा—ये दो भेद सूत्रानुयायी बौद्ध धर्म की दृष्टि से नहीं होते; अपितु ये भेद गुह्यतान्त्रिक शासन (धर्म) के उदय की दृष्टि से मुख्यतः होते हैं । यथा—पूर्वकथित 'पूर्वोदय शासन' के काल से लेकर भारतीय. पण्डित स्मृतिज्ञान के तिब्बत में पहुँचने के काल तक जितने गुह्यतन्त्र अनूदित हुए, उन्हें 'पूर्वानूदित' कहते हैं । उस पूर्व-अनूदित गुह्यतन्त्र का व्याख्यान करने वाले, उसको माननेवाले तथा उसमें प्रदर्शित साधना का अनुसरण करनेवाले 'ञीङ्म पा' (प्राचीन) कहलाते हैं ।

लोचवा रिन्छेनजङ् पो[1] (रत्नभद्र) के काल से लेकर बाद में जितने गुह्यतन्त्र अनूदित हए, उन्हें 'पश्चादनूदित' कहते हैं । उस

१. रीन् छेन् ब्जङ् पो ।

पश्चाद्-अनूदित गुह्यतन्त्र का अनुसरण करनेवाले 'सरमा पा' (नवीन) कहलाते हैं । लोचवा रिन्छेन् जङ् पो ने सरमा तन्त्र का अनुवाद सर्वप्रथम सन् ९७८ ई० में प्रारम्भ किया । इसके अनन्तर डोग्मी,[१] तानक गोस्[२] तथा ल्होडक[३] मरपा आदि विद्वानों ने क्रमशः अनेक तन्त्रग्रन्थों का भोटभाषा में अनुवाद किया । इन विद्वानों के सत्प्रयास से गुह्यतान्त्रिक सरमा शासन का तिब्बत में अत्यधिक प्रचार और विस्तार हुआ ।

इस समय तिब्बत में जितने बौद्ध सम्प्रदाय प्रचलित हैं, उनमें ४ अत्यधिक विकसित और प्रमुख हैं । उनमें ञीङ्मा (प्राचीन) एक तथा सरमा (नवीन) में तीन हैं, यथा—काग्युद् पा (आगम-परम्परानुयायी), साक्य पा (पाण्डुभौमिक) और गेलुग पा (कल्याणपथिक) । इस प्रकार ये ४ सम्प्रदाय अधिक प्रसिद्ध हैं । हम इनका यहाँ सङ्क्षेप में परिचय दे रहे हैं ।

ञीङ्म पा[४]—सन् ८१० ई० में उड्डियान (उद्यान नामक स्थान) के आचार्य पद्मसम्भव तिब्बत देश में पधारे । उन्होंने सम्यक् छीम्फू[५] (स्थान विशेष) में रहकर १८ महासाधन तन्त्र-ग्रन्थों का अनुवाद किया । उन्होंने राजा और सेवक आदि २५ सौभाग्यशाली पुरुषों के सम्मुख 'महारहस्य' नामक वज्रयानिक धर्मचक्र का प्रवर्तन किया । आचार्य पद्मसम्भव द्वारा प्रवर्तित परम्परा 'ञीङ्म तन्त्रसिद्धान्त' कहलाती है ।

काग्युद् पा[६]—सन् १०१२ ई० में मरतोन छोस् ची लोडोस[७] (धर्ममति) नामक भद्रपुरुष उत्पन्न हुए । इन्होंने भारत की तीन बार यात्रा की । इन यात्राओं में इन्होंने भारत के महापण्डित नरोपा, मैत्री

---

१. अब्रोग्मी ।
२. र्त नग् अगोस् ।
३. ल्हो ब्रग् मर् पा ।
४. र्ञीङ्मा पा ।
५. ब्सम्यस् म्छीम्स् फु ।
६. ब्कअ् र्ग्युद्पा ।
७. मर्स्तोन् छोस् क्यीब्लो ग्रोस् ।

पा आदि अनेक गुरुओं के चरणों में बैठकर अनेक प्रामाणिक तन्त्रग्रन्थों का अनुवाद एवं व्याख्याएँ कीं । इनके द्वारा प्रवर्तित तथा चेजुन मीला रेपा[१] एवं ञम्मेद दगपोल्हा जे[२] आदि महापुरुषों द्वारा संवर्द्धित परम्परा 'काग्युद्पा सम्प्रदाय' कहलाती है । इस सम्प्रदाय के ८ उपभेद प्रसिद्ध हैं । इनमें कम्छङ्पा, डीगुङ्पा,[३] तगलुङ् पा[४] और डुक्पा[५]—ये ४ 'महा काग्युद्पा' तथा अन्य ४ भेद 'लघु काग्युद्पा' कहलाते हैं ।

साक्य पा—सन् १०३४ ई० में तिब्बत में खोन् कोन् चोग् ग्यल् पो (रत्नराज) नामक महापुरुष उत्पन्न हुए । इन्होंने डोगमी लोचवा नामक विद्वान् के मुख से नालन्दा के उपाध्याय श्री धर्मपाल (सिद्ध हो जाने पर जिनका नाम वैरूप्य प्रसिद्ध हुआ) और महापण्डित गयाधर द्वारा प्रवर्तित परम्परा के मार्ग एवं फल विषयक उपदेश सुने । इनके द्वारा तथा इनके पश्चात् साछेनगोङ्मा-नामङा[६] आदि विद्वानों द्वारा प्रवर्धित परम्परा 'साक्य पा सिद्धान्त' कहलाती है ।

कादम्पा[७]—सन् १०३९ ई० में विक्रमशिला विद्यापीठ के आचार्य महापण्डित दीपङ्कर श्रीज्ञान तिब्बत पधारे । इन्होंने तिब्बत जाकर गम्भीर और उदार सौत्र (सूत्रानुसारी) धर्म और तान्त्रिक धर्म का प्रचार किया । इनके द्वारा प्रवर्तित तथा खु, ङोर्क्[८], डोम[९] आदि महापुरुषों द्वारा संवर्धित परम्परा 'कादम्पा सिद्धान्त' कहलाती है ।

---

१. जेंब्चुन् मिला रस् पा ।
२. म्ञम् मेद् दग् पो ल्ह जें ।
३. अ्बीगुङ्पा ।
४. स्तग्लुङ्पा ।
५. अ्ब्रुग् पा ।
६. यह किसी व्यक्तिविशेष का नाम नहीं हैं; अपितु साक्य पा सम्प्रदाय के आदि प्रवर्तक ५ महापुरुषों का सम्मिलित नाम है ।
७. ब्कअ् ग्दम्पा ।
८. ङोंग् ।
९. अ्ब्रोम् ।

गेलुग् पा[१]—सन् १३५७ ई० में तिब्बत में पूर्वोक्त कादम्पा सम्प्रदाय में ही जमगोन चोङ्खा पा[२] नामक एक महापुरुष उत्पन्न हुए । ये बहुत बड़े विद्वान् और सिद्ध थे । इन्होंने तिब्बती भाषा में अनूदित बुद्धवचन, उनकी टीकाओं तथा अन्य भारतीय शास्त्रों की श्रवण, चिन्तन और भावना द्वारा परीक्षा की और उनका यथार्थ ज्ञान प्राप्त किया तथा उन प्रवचनों के गम्भीर अर्थों का अपने शिष्यों को अविपरीत और अभ्रान्त उपदेश दिया । इनके द्वारा प्रवर्तित तथा ग्यलछब्[३], खेडुब्[४] आदि विद्वानों द्वारा संवर्धित परम्परा गेलुग् अथवा गेदनपा सिद्धान्त कहलाती है ।

(ङ) उद्देश्य आदि की समानता

कुछ लोग सामान्यतः ऐसा सोच सकते हैं कि तिब्बत में जो साक्य पा, काग्युद् पा, ञीङ्म पा आदि विभिन्न सम्प्रदाय उपलब्ध होते हैं, उनमें वस्तु, मार्ग एवं फल की स्थापना में परस्पर अनेक विरोधी मतभेद होंगे, जैसे बौद्धों और अबौद्धों में मतभेद होते हैं; किन्तु ऐसा बिलकुल ही नहीं है ।

जो थोड़े भेद हैं, वे भी सब बाह्य भेद ही हैं । जैसे हम प्रतिदिन आकाश में उड़नेवाले वायुयानों को देखते हैं । उनमें कुछ छोटे होते हैं, कुछ बड़े होते हैं तथा कलाकारों (इञ्जिनियरों) की निपुणता और अनुभवों के आधार पर उनके अवयवों की बनावट में भी कुछ भेद होता है; किन्तु ये सब भेद बाह्य हैं । सभी वायुयान विद्युत् और वायु की शक्ति से आकाश में उड़ते हैं—इस दृष्टि से उनमें कुछ भी भेद नहीं होता और हम उन सबका वायुयान के रूप में ग्रहण करते हैं । ठीक उसी प्रकार तिब्बत के बौद्ध सम्प्रदायों में जो थोड़े बहुत मतभेद हैं, वे उन उपायों, संकेतों और व्यवहारों में हैं, जिनका प्रयोग सम्प्रदाय-प्रवर्तक आचार्यों और सिद्धों ने अपने अनुभवों के आधार पर विनेय जनों को सुमार्ग पर लाने के लिए

---

१. द्गे लुग् पा ।
२. अ्जम् म्गोन्० ।
३. ग्यल्छब् ।
४. म्खस् ग्रुब ।

किया है । उन धार्मिक सम्प्रदायों का जो अन्तिम फल या मूल साध्य 'बुद्धत्व' है, उसमें कुछ भी भेद नहीं होता । अपि च—उस अन्तिम फल बुद्धत्व को सिद्ध करने के लिए उपाय के रूप में पहले जो तीन अधिशिक्षाएँ कही गयी हैं, उनके क्रम में तथा अनुज्ञापित दृष्टि चतुर्मुद्रा [१] का उल्लङ्घन न करके सूत्र तथा तन्त्र की युग्मरूप से भावना करने में भी कोई विरोध नहीं है । इस तरह इन सब सम्प्रदायों की साधनाओं का अन्तिम उद्देश्य एक ही है ।

(च) भोटदेशीय बौद्धधर्म की प्रामाणिकता

कुछ लोग ऐसा समझते हैं कि तिब्बत का धर्म लामाओं का धर्म है और वह भगवान् बुद्ध द्वारा उपदिष्ट धर्म से भिन्न है; किन्तु उनका ऐसा समझना सर्वथा भ्रान्त है, सत्य से एकदम विपरीत है । तिब्बत में लामाओं का ऐसा कोई पृथक् धर्म नहीं है । तिब्बत के बौद्धधर्म के समस्त मूल वचन सूत्र और तन्त्र सबसे पहले भगवान् बुद्ध द्वारा ही उपदिष्ट हैं । मध्य में भारतीय पण्डितों ने उन सूत्र और तन्त्रों के अभिप्रायार्थों की त्रिविध परीक्षा कर उनका सम्यक् युक्तियों द्वारा व्याख्यान किया है और युक्तिपूर्वक उनका निर्णय किया है । महान् सिद्ध और योगियों ने भी अनुरूप भावना करके उन गम्भीर उपदेशों का अपनी सन्तान में प्रामाणिक ज्ञान उत्पन्न किया है । अन्त में हिममण्डित भोटदेश के बोधिसत्त्वरूपी राजाओं, मन्त्रियों और कृपालु लोचवाओं ने उस ज्ञान को अर्जित करने में अपने प्राणों की भी परवाह न की, धन और सम्पत्ति की तो कथा ही क्या है । उन्होंने मार्ग के अनेक प्रकार के कष्ट झेलकर बड़े परिश्रम के साथ भारत और नेपाल के विविध भागों की अनेक बार यात्राएँ कीं । वे नदी की भाँति लगाकर इन देशों में ज्ञानार्जन के लिए आते रहे । यहाँ आकर वे उन प्रसिद्ध महापण्डितों और सिद्धों के चरणों में अनेक वर्षों तक बैठे, जिनकी विद्वत्ता के बारे में किसी प्रकार का विवाद न था । त्रिविध पर्युपासनाओं द्वारा उन पण्डितों

---

१. इसे चतुर्धर्मसंवर या चतुर्धर्मोद्दान भी कहते हैं । ये ४ हैं, यथा—१. सब सस्कृत अनित्य हैं, २. सब साम्रव दुःख हैं, ३. निर्वाण शान्त है तथा ४. सब धर्म शून्य एवं अनात्मक हैं । द्र०—महायानसूत्रालङ्कार, पृ० १४८ ।

और सिद्धों को सन्तुष्ट कर उन लोगों ने उनके मुख से धर्मोपदेश सुना और उन प्रवचनों का भोटभाषा में अनुवाद किया । उन सुप्रवचनों के आधार पर ही तिब्बत के लोग श्रवण, चिन्तन और भावना करते हैं । उन सुप्रवचनों से भिन्न, उनसे विरुद्ध अन्य कोई भी धर्म तिब्बत में लामाओं द्वारा अपना (स्वतः) बनाया हुआ नहीं है । यहाँ तक कि तिब्बत के पण्डितों को जब धर्म के किसी गूढ़ अर्थ के विषय में कोई सन्देह होता है; अथवा—जब उनमें शास्त्रार्थ (वाद-विवाद) होता है, तब थोड़ा सा भी मूल प्रमाण खोजने के लिए 'यह बुद्ध द्वारा उपदिष्ट है कि नहीं?' तथा 'यह अर्थ भारतीय पण्डितों द्वारा व्याख्यात है कि नहीं?'—इस प्रकार अनुसन्धान किया जाता है । बुद्ध द्वारा उपदिष्ट होने पर तथा भारतीय पण्डितों द्वारा उस प्रकार व्याख्यात होने पर ही सिद्धान्त पक्ष की स्थापना की जाती है ।

भवतु मङ्गलम् ।

●

परिशिष्ट

ग्रन्थकार द्वारा उद्धृत सूत्र एवं शास्त्रों का संग्रह

१. पटुत्वहीनेऽपि मतिप्रभावे जडप्रकारेष्वपि चेन्द्रियेषु ।
विनोपदेशात्प्रतिपद्यते यत्प्रसूतमात्रः स्तनपानयत्नम् ॥
आहारयोग्यासु कृतश्रमत्वं तद्दर्शयत्यस्य भवान्तरेषु ।
अभ्याससिद्धिर्हि पटूकरोति शिक्षागणं कर्मसु तेषु तेषु च ॥

—आर्यशूरकृतजातकमाला में ब्रह्मजातक; श्लोक सं० ११–१२ ।

(बौद्धसिद्धान्तंसार, पृ० ११) ।

२. सत्य इमे दुवि लोकविदूनां, दिष्ट स्वयं अश्रुणित्व परेषाम् ।
संवृति या च तथा परमार्थो, सत्यु न विद्यति किं च तृतीयु ॥

—पितापुत्रसमागमसूत्र ।

(बौ० सि० सा०, पृ० १२) ।

३. द्वे सत्ये समुपाश्रित्य बुद्धांनां धर्मदेशना ।

—आचार्यनागार्जुनकृत मूलमाध्यमिककारिका २४:८

(बौ० सि० सा०, पृ० १२) ।

४. [नैरात्म्यं गतिमुक्त्यर्थं द्विविधमुक्तं धर्मपुद्गलभेदेन ।
तच्छास्त्रा पुनरिदं तु बहुविधं विभज्य दम्येभ्यः ॥
प्रपञ्चसहिता उक्त्वा पुनः षोडश शून्यताः ।
संक्षिप्य च चतस्रस्ता महायानेऽप्युदीरिताः ॥]

—आचार्यचन्द्रकीर्तिकृत मध्यमकावतार के तिब्बती अनुवाद की संस्कृत छाया, षष्ठचित्तोत्पाद प्रकरण ।

(बौ० सि० सा०, पृ० १६) ।

५. राश्यायद्वारगोत्रार्थाः स्कन्धायतनधातवः ।

—आचार्य वसुबन्धुकृत अभिधर्मकोश १:२० पृ० ३०

(बौ० सि० सा०, पृ० १६) ।

६. पिटकत्रयं द्वयं वा संग्रहतः कारणैर्नवभिरिष्टम् ।
वासनबोधनशमनप्रतिवैधैस्तद्विमोचयति ॥

—आर्य मैत्रेयनाथकृत महायानसूत्रालङ्कार,
(धर्मपर्येष्ट्यधिकार ११) कारिका सं० १ ।
(बौ० सि० सा०, पृ० २०) ।

७. [शीलं तथोक्तो जगतां गुणानाम् ।
भूराश्रयः सर्वचराचराणाम् ॥]

—आचार्यनागार्जुनकृत सुहृल्लेख (सं० छा०) ।
(बौ० सि० सा०, पृ० २७) ।

८. .... तदौदारिकसंग्रहात् ।
दश कर्मपथा उक्ता यथायोगं शुभाऽशुभाः ॥

—आचार्य वसुबन्धुकृत अभिधर्मकोश ४:६६ ।
(बौ० सि० सा०, पृ० २८) ।

९. अष्टधा प्रातिमोक्षाख्यो द्रव्यतस्तु चतुर्विधः ।

—अभिधर्मकोश ४:१४ ।
(बौ० सि० सा०, पृ० ३९) ।

१०. शमथेन विपश्यनासुयुक्तः कुरुते क्लेशविनाशमित्यवेत्य ।
शमथः प्रथमं गवेषणीयः स च लोके निरपेक्षयाभिरत्या ॥

—आचार्य शान्तिदेवविरचित बोधिचर्यावतार, पृ० १३७ ।
(बौ० सि० सा०, पृ० ४५) ।

११. पञ्चदोषप्रहाणाष्टसंस्काराऽऽसेवनाऽन्वया ।

—आर्य मैत्रेयनाथकृत मध्यान्तविभाग, पृ० १२९
(मोतीलाल बनारसीदास, १९७१) ।
(बौ० सि० सा०, पृ० ४६) ।

१२. कौसीद्यमववादस्य सम्मोषो लय उद्धवः ।
असंस्कारोऽथसंस्कारः पञ्चदोषा इमे मताः ॥

—आर्य मैत्रेयनाथकृत मध्यान्तविभाग, पृ० १३०
(मोतीलाल बनारसीदास, १९७१) ।
(बौ० सि० सा०, पृ० ४६) ।

१३. आश्रयोऽथाश्रितस्ततस्य निमित्तं फलमेव च ।
आलम्बनेऽसम्मोषो लयौद्धत्याऽनुबुद्ध्यचना ।
तदपायाभिसंस्कारः शान्तौ प्रशठवाहिता ॥

—आर्य मैत्रेयनाथकृत मध्यान्तविभाग, पृ० १३०–१३१
(मोतीलाल बनारसीदास, १९७१) ।
(बौ० सि० सा०, पृ० ४८) ।

१४. निबन्ध्यालम्बने चित्तं तत्प्रवेधं न विक्षिपेत् ।
अवगम्याशु विक्षेपं तस्मिन् प्रतिहरेत्पुनः ॥
प्रत्यात्मं संक्षिपेच्चित्तमुपर्युपरि बुद्धिमान् ।
ततश्च रमयेच्चित्तं समाधौ गुणदर्शनात् ॥
अरतिं शमयेत्तस्मिन् विक्षेपदोषदर्शनात् ।
अभिध्यादौर्मनस्यादीन् व्युत्थितान् शमयेत्तथा ॥
ततश्च साभिसंस्कारां चित्ते स्वरसवाहिताम् ।
लभेतानभिसंस्कारात् तदभ्यासात् पुनर्यतिः ॥

—आर्य मैत्रेयनाथकृत महायानसूत्रालङ्कार,
(अववादानुशासनी विभाग) ११–१४ का०, पृ० ९० ।
(बौ० सि० सा०, पृ० ४९) ।

१५. सप्तभिर्मनस्कारैः प्रथमं ध्यानं समापद्यते; एवं यावन्नैव-
संज्ञानासंज्ञायतनं च । सप्तमनस्काराः कतमे ? लक्षणप्रति-
संवेदी मनस्कारः, अधिमोक्षिकः, प्राविवेजः, रतिसंग्राहकः,
मीमांसकः, प्रयोगनिष्ठः; प्रयोगनिष्ठाफलश्च मनस्कारः ।

—आचार्य आर्यअसंगकृत
अभिधर्मसमुच्चय, पृ० ६८–६९ ।
(बौ० सि० सा०, पृ० ५६–५७) ।

१६. पञ्चाद्ये तर्कचारौ च प्रीतिसौख्यसमाधयः ।
प्रीत्यादयः प्रसादश्च द्वितीयेऽङ्गचतुष्टयम् ॥
तृतीये पञ्च तूपेक्षा स्मृतिः प्रज्ञा सुखं स्थितिः ।
चत्वार्यन्तेऽसुखादुःखोपेक्षास्मृतिसमाधयः ॥
द्रव्यतो दश चैकं च,.................... ।

—अभिधर्मकोश ८:७–९ का० ।
(बौ० सि० सा०, पृ० ६०) ।

१७. सत्कायदृष्टिप्रभवानशेषान् क्लेशांश्च दोषांश्च धिया विपश्यन् ।
आत्मानमस्या विषयं च ज्ञात्वा योगी करोत्यात्मनिषेधमेव ॥

—आचार्य चन्द्रकीर्तिकृत मध्यमकावतार,
षष्ठ चित्तोत्पाद प्रकरण ।
(बौ० सि० सा०, पृ० ६५) ।

१८. निःस्वभावा अमी भावास्तत्त्वतः स्वपरोदिताः ।
एकानेकस्वभावेन वियोगात्प्रतिबिम्बवत् ॥

—आचार्य शान्तरक्षितकृत–
मध्यमकालङ्कार ।
(बौ० सि० सा०, पृ० ६६) ।

१९. कल्पितं भावमस्पृष्ट्वा तदभावो न गृह्यते ॥

—आचार्य शान्तिदेवविरचित
बोधिचर्यावतार, पृ० २६६ ।
(बौ० सि० सा०, पृ० ६६) ।

२०. यथ ज्ञात्वात्मसंज्ञास्तथैव सर्वत्र प्रेषिता बुद्धिः ।
सर्वे च तत्स्वभावा धर्म विशुद्धा गगनकल्पाः ॥

—समाधिराजसूत्र, पृ० ७७ ।
(बौ० सि० सा०, पृ० ६९) ।

२१. ततश्च मोक्षभागीयमारभ्य कुशलान् सदा ।
अभ्यसेत् श्रावकत्वाय क्रमशः श्रावको भवेत् ॥

—आचार्य चन्द्रकीर्तिकृत त्रिशरणसप्तति (सं० छा०) ।
(बौ० सि० सा०, पृ० ७२) ।

२२. परिच्छेदोऽथ सम्प्राप्तिः परसम्भावना त्रिधा ।
विपक्षप्रतिपक्षश्च मार्गस्याङ्गं तदष्टधा ॥

—आर्य मैत्रेयनाथविरचित मध्यान्तविभाग, पृ० १३६
(मोतीलाल बनारसीदास, १९७१) ।
(बौ० सि० सा०, पृ० ७७) ।

२३. [प्रत्येकबुद्धबोध्यर्थी यः स्वभूज्ञानमिच्छति ।
यत्नं विदधमानेन बोधिः सैवाधिगम्यते ॥]

—आचार्य चन्द्रकीर्तिकृत त्रिशरणसप्तति, (सं० छा०) ।
(बौ० सि० सा०, पृ० ७९) ।

२४. एकार्थत्वेऽप्यसंमोहाद् बहूपायाददुष्करात् ।
तीक्ष्णेन्द्रियाधिकाराच्च मन्त्रशास्त्रं विशिष्यते ॥

—आचार्य उद्भट त्रिपिटकमलविरचित
न्यायत्रयप्रदीप ।
(बौ० सि० सा०, पृ० ८३) ।

२५. [मन्देभ्यस्तु क्रियातन्त्रमक्रियातन्त्रमुत्तरम् ।
योगतन्त्रं सुसत्त्वेभ्यस्तत ऊर्ध्वमनुत्तरम् ॥]

—आर्य डाकिनीवज्रपञ्जरमहातन्त्रराजकल्प,
१३वाँ परिच्छेद (सं० छा०) ।
(बौ० सि० सा०, पृ० ८४) ।

२६. स्वाभाविकः ससांभोगो नैर्माणिकोऽपरस्तथा ।
धर्मकायः सकारित्रश्चतुर्धा समुदीरितः ॥

—आर्य मैत्रेयनाथकृत अभिसमयालङ्कार, पृ० २६ ।
(बौ० सि० सा०, पृ० ८६) ।